महाविज्ञान

माँ वीणा

प्रकाशक
संतमत शक्तिस्वरूपा सेवा संघ ट्रस्ट
महर्षि संतसेवी आश्रम, गौरवकुंज
साडावार, गोड्डा (झारखण्ड)

मूल्य–35 रुपये

प्राप्ति स्थान-
महिला सेवा–समिति, कोलकाता (प0 बं0)
संपर्क–09830905761

भूमिका

ॐ श्री सद्‌गुरुवे नमः
गुरुर्ब्रह्मा गुरु विष्णुर्गुरुदेवः महेश्वरः।
गुरुर्साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

आधुनिक जीवन भागदौड़ का जीवन है। आज हर मानव यही समझता है कि हमारे रहने के लिए एक सुंदर मकान बन जाए तो शायद हमारा जीवन सुखमय हो जाएगा; खाने के लिए हमारे घर में अन्न, फल, दूध, मेवा, मिष्टान हो तो हमारा जीवन सुखमय हो जाएगा; पहनने के लिए सुन्दर, आधुनिक कीमती कपड़े हों तो हमारा जीवन सुखमय हो जाएगा; हमारे पास करोड़ो-अरबों का बैंक-बैलेंस हो तो हमारा जीवन सुखमय हो जायेगा; हमारे पास मोटर कार हो तो हमारा जीवन सुखमय हो जायेगा। किन्तु, संसार में सांसारिक वस्तुओं के पीछे दौड़नेवाला आज तक कोई भी सुखी नहीं हुआ। फिर प्रश्न उठता है कि संसार में सुखी कौन हुआ? सुखी वही हुआ, जिन्होंने मानव-जीवन के रहस्यमय विज्ञान को समझा, मानव के मूल्यों को परखा, उस सत्य स्वरूप परमात्मा को जानने का प्रयास किया। जिसे वैज्ञानिकों ने अणु, परमाणु, इलेक्ट्रो मैग्नेटिक एनर्जी आदि कहा, उसे संतों ने ईश्वर या परमात्मा कहा।

बचपन में हमलोग इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान आदि पुस्तकों को पढ़ते थे। शरीर-विज्ञान में शरीर की रचनाओं को, जीव विज्ञान में जीव-जन्तुओं के बारे में, भूगोल में भू और भूगर्भ के बारे में तरह-तरह की जानकारी प्राप्त किये। परिक्षायें भी दिये, सार्टिफिकेटों का अंबार लग गया। किन्तु हम गहराई से देखें तो ये ज्ञान हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए कुछ खास महत्व का नहीं रहा।

हमारा विज्ञान इस बात को मानता है कि यह विशाल संसार किसी शक्ति के आधार पर आधारित और संचालित है। विज्ञान आज जो खोजा है, हमारे संतों-ऋषियों ने उसे बहुत पहले ही खोज लिया था। प्राचीन काल के योद्धा वाण चलाते थे और उसे लौटाने की कला भी जानते थे। आज विज्ञान के आविष्कार हवाई जहाज और रॉकेट हैं, पर प्राचीन काल के ऋषि-मुनि पुष्पक विमान पर चलते थे। भगवान श्रीराम पुष्पक विमान द्वारा लंका से अयोध्या लौटे थे। हमारे ऋषि-मुनि अंतर्यामी होते थे। वे मन की बात को जान लेते थे। वे जो भी भविष्यवाणी करते थे, वह सत्य होता था। वे मानव-शरीर के भीतर सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य शरीर को पारकर परमात्मा के धाम में जाते थे। उनका आवागमन का चक्र सदा के लिए मिट जाता था।

वास्तव में परमात्म तत्त्व को जानकर परमात्मा हो जाना ही महाविज्ञान के रहस्यों को जानना है। आज के वैज्ञानिक तो मात्र ग्रह, उपग्रह, भूगर्भ एवं पिण्ड-ब्रह्माण्ड के विज्ञान को जानते हैं, किन्तु हमारे ऋषि-मुनि, संत-महात्मा आत्म विज्ञान को जानते थे। यह आत्म विज्ञान या अध्यात्म ज्ञान ही महाविज्ञान है। इसके महत्व को जब तक नहीं जानेंगे, तब तक हम उस ओर नहीं चलेंगे। और जब तक उस ओर नहीं चलेंगे, जीवन में सुख, शांति, तृप्ति नहीं आ सकेगी।

प्रत्येक व्यक्ति को सत्पथ पर अग्रसर करने हेतु प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन किया गया है। इससे पाठकों को प्रेरणा मिल सकी तो मैं इसे गुरुदेव की विशेष कृपा समझूँगी।

मॉं वीणा
कोलकाता

विषय-सूची

क्र०	विषय	पृष्ठांक
1.	महा विज्ञान क्या है?	1
2.	अध्यात्म विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता	2
3.	अध्यात्म-विज्ञान क्या है?	3
4.	ध्यान क्या है?	4
5.	नाड़ियाँ:	5
6.	पाप और पुण्य:	7
7.	हमारे दु:ख और अशान्ति का कारण	7
8.	ध्यान बहुत ही बड़ा महा विज्ञान है:	8
9.	सारी शक्तियाँ हमारे अंदर हैं	9
10.	महाविज्ञान की प्राप्ति के उपाय	11
11.	सत्संग क्या है?	12
12.	आज्ञाचक्र	15
13.	त्रिवेणी संगम	18
14.	सुरत-शिरोमनि घाट	24
15.	हमें कैसा बनना है?	25
16.	हमें संसार से विरक्ति कैसे हो	27
17.	प्रेरक प्रसंग	29
18.	मानव कल्याण का मार्ग	34
19.	अपने को जानना	37
20.	वर्तमान का सदुपयोग	37
21.	प्रेरक प्रसंग	39
22.	चौरासी अंगुल मनुष्य शरीर	40
23.	श्रीमद्भगवद्गीता प्रथमोऽध्याय:	42

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
24.	दूसरा प्रकरण (कर्म जिज्ञासा)	44
25.	तीसरा प्रकरण (कर्मयोग शास्त्र)	47
26.	'योग: कर्मशु कौशलम्'	47
27.	चौथा प्रकरण (चौथा अध्याय)	48
28.	पाँचवाँ अध्याय	50
29.	षष्टम अध्याय	52
30.	सप्तम अध्याय	55
31.	अष्टम अध्याय	57
32.	नवम अध्याय	58
33.	दशवां अध्याय	60
34.	एकादश अध्याय	61
35.	द्वादश अध्याय	62
36.	त्रयोदश अध्याय	65
37.	चौदहवाँ अध्याय	70
38.	पन्द्रहवाँ अध्याय	72
39.	सोलहवाँ अध्याय	76
40.	सत्रहवाँ अध्याय	77
41.	अठारहवाँ अध्याय	79
42.	सिद्धि कैसे प्राप्त होती है?	83

महा विज्ञान क्या है?

प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को जानना, जीव के स्वरूप को पहचानना, मृत्युपरांत जीवन को जानना, संसार के निर्माता को जानना, शांतिमय सुख को पाना आदि विषयों को सम्मिलित रूप से हम अध्यात्म विद्या कहते हैं। शब्दिक रूप से देखें तो अध्यात्म विद्या का अर्थ है, आत्मा-संबंधी विद्या। यही भारत का महाविज्ञान है।

पहले हमारा देश इस विद्या से परिपूर्ण था। लोग तीर छोड़ते थे तो फिर वापिस बुला लेते थे। उनके यान उनकी मर्जी से चलते थे, रुकते थे, उतरते थे और भी बहुत काम होते थे। वे सब महाविज्ञान में पारंगत होने के कारण अपना रूप भी बदल लेते थे। खुद भी उड़कर चलते थे। उनमें अपार शक्ति थी। यदि हम उस ज्ञान को अपनी दैनिक पढ़ाई के साथ जोड़ दें तो हमारा जीवन अद्‌भुत हो जाएगा। हम शक्ति सम्पन्न हो, चिन्तामुक्त एवं खुशहाली का जीवन व्यतीत कर पायेंगे।

तो आइये, हम देखते हैं कि यह महाविज्ञान क्या है? इसके बारे में जानने की क्या आवश्यकता है? और इसकी पढ़ाई हम कैसे कर सकते हैं?

गिरे हुए समाज के उद्धार के लिये विद्या की अनिवार्य आवश्यकता है। पर, आधुनिक विद्या का स्वरूप कुछ बदल गया है। उसमें नैतिक शिक्षण और चरित्र निर्माण के लिए कोई स्थान ही नहीं है। विद्यार्थी में चरित्र बल, कर्मशक्ति, आशा, विश्वास, उत्साह, संयम और सात्विकता जगाने की शक्ति उसमें नहीं है। जिस विद्या में कर्मशक्ति को प्रेरणा न मिलती हो, जो परिस्थितियों से टकराने का सामर्थ्य न दे सके वह विद्या निष्प्राण है। आज का युग ऐसी ही दिखावटी विद्या दे रहा है। हमारे असंख्य विद्यार्थी कला, विज्ञान, विाणिज्यादि की डिग्रियाँ प्राप्त करके निकलते हैं, पर उनमें छल, कपट, धूर्तता, दुश्चरित्रता, विलासिता, द्वेष और अहंकार के अलावा कुछ नहीं रहता। तनिक-सी बात पर अशिष्ट

आचरण, मार-पीट करना, हड़ताल करना, छेड़खानी करना, फिजुलखर्ची करना, शराब-सिगरेट पीना ये ही उनके स्वभाव बन गए है। स्वस्थ चिन्तन का उनमें बिल्कुल अभाव रहता है। जिसमें इतनी त्रुटियाँ हो उसे विद्या नहीं, अविद्या ही कहनी चाहिये।

पुराने जमाने में गुरुकुल होते थे। उसमें सांसारिक के साथ परमार्थिक ज्ञान भी दिया जाता था। पढ़ाई पूरी करने के बाद विद्यार्थी अपने वर्णाश्रम एवं अन्य कार्यों में लगते थे। इसी कारण वे जीवन जीने की कला में कुशल थे और अपने जीवन का सही लक्ष्य निर्धारित करके उसे अपने में क्रियान्वित करते थे। जो ज्ञान मनुष्य को सही दिशा, उन्नति का सही मार्ग और जीवन का सच्चा प्रकाश दिखलाता है, वही सच्चा ज्ञान है। इसे ही अध्यात्म ज्ञान कहते हैं। सच्चे गुरु ही यह सच्चा ज्ञान दे सकते हैं। जब तक जीवन की दिशा सात्विक नहीं होगी, गुण, कर्म और स्वभाव में सत् तत्व का समावेश नहीं होगा, तब तक मनुष्य की पशुता दूर नहीं होगी। पशुता दूर करनेवाली यह अध्यात्म विद्या यानी महाविज्ञान सुखी और शांतिमय जीवन की प्रमुख आवश्यकता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या सभी लोग उससे लाभान्वित हो पायेंगे? तो उत्तर मिलता है कि जो मेहनत करेंगे अवश्य लाभान्वित होंगे।

अध्यात्म विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता

हमें देखना यह है कि अपने जीवन के अत्यधिक व्यस्त क्षणों में इन चर्चाओं की क्या थोड़ी भी उपयोगिता है? धर्म का अर्थ है, धारण करना। परिवार, समाज और देश के प्रति हमारे कुछ कर्त्तव्य निर्धारित हैं। उन कर्त्तव्यों को धारण करना एवं पालन करना धर्म की परिभाषा में आता है। यह वाह्य जगत के क्रिया-कलापों, सामाजिक व्यवहारों तथा अनुशासन के रीति-रिवाजों को सही रूप देने तथा सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था को सुनिश्चित करने से संबंध रखता है। अध्यात्म-विज्ञान का संबंध हमारी आत्मा के स्वरूप, जन्म-मृत्यु के रहस्यों तथा आवागमन के कष्टदायी चक्र से छुटकारा पाने के लिए अनुशासन किए गए उपायों के

विशेष अध्ययन से है।

रामायण, वेद, उपनिषद्, महाभारत, पुराण, कुरान आदि की गहराई में हम नहीं जा पाते। इसलिए हम केवल उनकी रोचक कहानियों को सुनते-सुनते ही अपना जीवन बिता देते हैं। इससे अधिक की जानकारी का पूर्ण अभाव रहता है।

अध्यात्म-विज्ञान क्या है?

संतों के अनुसंधान की ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें हम जीते-जी अपने शरीर से अलग हो सकते हैं। इसे ही हम इच्छा मृत्यु कह सकते हैं। यह परमात्मा की ओर से सभी मानव को प्राप्त है, किन्तु हम अज्ञानी उसे अपनाने के अभाव में चूक जाते हैं।

आदि काल से मानव जीवन और मृत्यु के बीच महान दुविधा की अवस्था में पड़ा हुआ है। उसे यह नहीं पता कि वह कहाँ से आया है, कहाँ जाना है और उसे इस संसार में आने का उद्देश्य क्या है? अपने जीवन में 100 वर्षों की जिन्दगी की सुख-सुविधाओं के लिए सारी व्यवस्था करने के बाद भी उसे मृत्यु के मुख में क्यों जाना पड़ता है? यह आवागमन ही कष्टदायक स्थिति है। इसके समान कष्टदायक स्थिति संसार में हजारो अन्य कष्ट या कह सकते हैं कि कोई भी अन्य कष्ट नहीं है। क्या इस संघर्षमयी प्रक्रिया से छुटकारा पाने का कोई उपाय है? आवागमन सबसे भयंकर बीमारी है।

इसी बीमारी का इलाज हमारे संत महापुरुषों ने असहनीय कष्टों को सहकर घोर साधना करके अनुसंधान किया है। वे स्वयं करते हैं और हमें बताते हैं। यदि हम उनके अनुसार चलेंगे तो अवश्य इस बीमारी से छुट जायेंगे।

योनियों की गणनाः—योनियों की गणना के अनुसार चौरासी लाख योनियों में एक बार गिरने के बाद मानव-जीवन प्राप्त करने में कम से कम नौ करोड़ तीस लाख वर्ष लगते हैं। अतः इस कठिनता ये प्राप्त बहुमूल्य मानव-शरीर को हमें व्यर्थ गंवाना महा मूर्खता है।

जिज्ञासाः—इस आधुनिक जीवन में हम मानव अत्यधिक

मानसिक चिन्ता के शिकार होकर तरह-तरह की बीमारियों से ग्रसित रहते हैं। उसका क्या उपाय हो सकता है?

समाधानः—सबसे सुंदर समाधान है, ध्यान। इसके लिए हम किसी संत सद्गुरु के शरण में जायें और उनसे दीक्षा लेकर पूरी श्रद्धा और विश्वास के साथ त्रयकाल संध्या करें। अर्थात 3 बजे से 4 बजे ब्राह्ममुहूर्त में, 2 से 3 बजे तक अपराह्नकाल में एवं संध्या में 6 बजे से 7 बजे तक ध्यानाभ्यास करें। ध्यान का मतलब है, विचारशून्य होना। कहा भी गया है—**'ध्यानं शून्यगतं मनः'**। दृष्टि की चेतनधारा को नासाग्र में रखने का प्रयास करें। इसके लिए हमें किसी उच्चकोटि के गुरु से मार्गदर्शन लेना होगा। तब तक के लिए हम कम-से-कम दिनभर में एक घंटा संध्या समय या सुबह ब्राह्ममुहूर्त में बिल्कुल ही शांत वातावरण में दोनों आँखें बंद करके पूर्णरूपेण विचारशून्य होने का प्रयास करें। तथा सामने दृष्टि रखते हुए एक विन्दु पर ध्यान स्थिर करने का प्रयास करें। इन सब बातों को भूल जायँ कि हम कौन हैं? स्त्री या पुरुष, बुद्धिमान या बुद्धिहीन, गरीब या अमीर, अच्छा या बुरा। हम जो भी हैं, कोई लेबल न रहे। न कोई इच्छा रहे, न वासना रहे और न संकल्प रहे। सब शांत होकर समाहित हो चुप हो जाय।

हम कह सकते हैं, हमारे पास समय नहीं है। यदि हमें दूसरों की नुक्ताचीनी से अवकाश मिल जाय, तो हम समय अवश्य निकाल सकते हैं। इस बात को हम भूल जायँ कि हम कौन है?

ध्यान क्या है?

हम ऐसे समझें कि मन की एकाग्रता क्या है? इसे ध्यान भी कहते हैं। आजकल बच्चे (Meditation) करने पर जोर देने लग गये हैं, ये बहुत अच्छी बात है। कारण क्या है?

आजकल शरीरिक श्रम के अभाव में तथा मानसिक श्रम की अधिकता के कारण लोगों में Tension एवं depression की प्रबलता आ गई है। इन बीमरियों से बचने के लिए पढ़े-लिखे लोग Meditation का सहारा लेने लग गये हैं। जब हम ध्यान में

बैठते हैं तो हमें संकल्प-विकल्प घेर लेता है। हम कहीं के कहीं जुड़ जाते हैं। विचार तो आयेंगे ही पर हम उन विचारों से चिपकें नहीं। हम उसमें रस लेने लग जाते हैं, उसमें रस न लें। विचार आयें और जायें हम उन्हें साक्षी भाव से देखते रहें। यानी दर्शक बने रहेगें तो धीरे-धीरे संकल्प भी शांत हो जायेंगे।

फिर धीरे-धीरे मन एकाग्र होने लगेगा, मन स्थिर होने लगेगा और अपने आप आगे का आनन्द आने लगेगा। जब मन थोड़ी देर टिका तो धारणा की अवस्था आ गई। यही जब कुछ काल तक ठहर गई तो इसे ध्यान कहते हैं और ध्यान गहरी अवस्था में जाकर 2 से 3 घंटे तक ध्यान में जाने के बाद इसे ही समाधि कहते हैं।

नाड़ियाँः–हमारे शरीर में करोड़ो नाड़ियाँ हैं। जिनमें 101 नाड़ियाँ प्रमुख है। उन 101 नाड़ियों में 3 प्रमुख है–इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। इड़ा और पिंगला का उद्‌गम स्थान मूलाधार चक्र है। इड़ा बायीं ओर तथा पिंगला दाहिनी ओर है तथा इन दोनों नाड़ियों के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है। जिससे ये परस्पर एक दूसरे को पार करती हुई आगे आ जाती है। सुषुम्ना नाड़ी का मार्ग रहस्यमय है। यह योगशक्ति को प्रवाहित करनेवाली सूक्ष्म नाड़ी है। सुषुम्ना नाड़ी मूलाधार से प्रारम्भ होकर विभिन्न चक्रों से होती हुई अंत में सहस्त्रार चक्र में पहुँचती है।

सुषुम्ना नाड़ी में कुंडलिनी शक्ति का उत्थान होता है। जैसे-जैसे कुंडलिनी शक्ति सुषम्ना मार्ग से अग्रसर होती है, वैसे-वैसे ज्ञान और चेतना के प्रकाश का मार्ग खुलता जाता है। इड़ा नाड़ी का प्रवाह श्वास के बायें नासा रंध्र में तथा पिंगला नाड़ी का प्रवाह दाहिने नासारंध्र में होता है। इन दोनों श्वास प्रवाहों का संबंध अनुकंपी (Sympathetic) और पराअनुकंपी (Parasymphathetic) स्नायु संस्थानों से है, जो शरीर के विभिन्न क्रिया-कलापों का नियंत्रण और संचालन करते हुए परस्पर उन्हें संतुलित बनाये रखते हैं। साधारणतः दिन के समय पिंगला नाड़ी की प्रधानता तथा रात्रि में इड़ा की प्रधानता रहती है।

यदि कोई व्यक्ति अपने कार्यों के बारे में अधिक चिन्तित रहता है और वह अपने शारीरिक क्षमता से अधिक काम करता है तो रात-दिन उसकी पिंगला नाड़ी की प्रधानता कायम रहती है। यदि यह क्रम अधिक समय तक चलता रहेगा तो व्यक्ति के स्थूल और प्राणमय शरीर में असंतुलन हो जाएगा, जिसके कारण वह बीमार पड़ सकता है।

इसी ओर, जो व्यक्ति अधिक चिन्तन करता है, जो अपनी ही समस्याओं में उलझा रहता है, काम कम करता है और वाह्य जगत के आकर्षण के प्रति रूचि कम रखता है, उसमें इड़ा का प्रवाह अधिक रहता है। वह शारीरिक परिश्रम के अभाव में अनेक प्रकार के शरीरिक और मानसिक रोगों जैसे न्यूरोसिस आदि रोगों से पीड़ित रहता है। इसके लिए दोनों नाड़ियों का संतुलन अत्यन्त आवश्यक है।

इड़ा पिंगला और सुषुम्नाः–जब हम ध्यान में बैठते हैं और यदि हमारी सुरत बायीं ओर आ जाती है तो हम तम में चले जाते हैं, नींद और आलस आने लगता है। जब दाहिनी ओर चली जाती है तो रज में यानी रजोगुणी वृत्ति हो जाती है। इससे गुणावन होने लगता है। कभी-कभी तो इतना गुणावन होने लगता है कि घंटो चलता रहता है। जब हम बिल्कुल सीधे बैठते रहते हैं और हमारी सुरत बिल्कुल सुषुम्ना में सीधी होती है, तो हम सत् में रहते हैं। उस समय मन लग जाता है।

अतः हमें बायीं तथा दायीं तरफ से बचते हुए सुषुम्ना में ध्यान रखना चाहिये, ताकि हमारा ख्याल डगमगाये नहीं।

हिम्मत न हारिये प्रभु न बिसारिये।
हँसते मुस्कुराते हुए जिन्दगी गुजारिये।
हँसते मुस्कराते जीना जिनको आ गया,
टुटे हुए दिलों को सीना जिसको आ गया।
ऐसे देवताओं के चरण पखारिये,
उनकी तरह नेक बनकर जीवन गुजारिये।।

ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए साधन-भजन में संलग्न

रहनेवाले व्यक्ति में ब्रह्मतेज की प्रचण्ड शक्ति आ जाती है और वही व्यक्ति ब्रह्मसाक्षात्कार करने में समर्थ होता है।

पाप और पुण्यः—पाप और पुण्य क्या है? पाप और पुण्य दो शब्द हुए। साधारणतः हम सुनते हैं, पाप का फल दुःख और पुण्य का का फल सुख होता है। हमें समझना है, पाप और पुण्य के बारे में। दूसरे शब्द में आसक्ति और मोह क्या है? आसक्ति और मोह दो नहीं है।

हमारे दुःख और अशान्ति का कारणः—जिन कर्मों से हमारी आसक्ति और मोह कम होता है, वही पुण्य है और जिन कर्मों से हमारी आशक्ति और मोह बढ़ता है, वही पाप है। जैसे, हम व्रत-उपवास करते हैं तो हमारी स्वइन्द्रियों पर अंकुश लगता है। जब हम दान देते हैं और दान भी उस हद तक जिसको देने में हमें कष्ट हो, फिर भी सहर्ष देते हैं। उस दान से धन की आसक्ति कम होती है। इसी तरह सभी चीजों का है।

कोई शराबी है उसकी आसक्ति शराब से है, कोई जुआरी है उसकी आसक्ति जुए से है। हमें बुरे लोगों से नफरत न करके प्रेम से उनकी इच्छाशक्ति बढ़ाने में उनलोगों की मदद करनी चाहिये। इसके लिए किसी भी आसक्ति को छोड़ने के लिए इच्छाशक्ति को बढ़ाने की जरूरत है। और इच्छाशक्ति को बढ़ाने के लिए हमें सत्संग के सहारे की जरूरत है। सत्संग से मानोबल बढ़ता है साथ ही हमें प्रेरणा मिलती है।

हमें अपने आप की जाँच करनी है कि, हमारी आसक्ति और मोह किन-किन चीजों में फँसी हुई है। जैसे, हम परिवार में हैं तो बच्चों से बेहद मोह है। उनमें भयंकर आसक्ति है, जिसके कारण हमारा दुःख बढ़ जाता है। उनके प्रति जो हमारा कर्त्तव्य है वह हमें अवश्य करनी चाहिए और परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये। पर अपने आसक्ति और मोह को खत्म करना चाहिये, तभी हमारा दुःख मिट सकता है।

ध्यान बहुत ही बड़ा महाविज्ञान हैः—आँख बंद करने

का बहुत ही बड़ा वैज्ञानिक कारण है, जिसे साधारण लोग नहीं समझ पाते हैं। यदि किसी को दो-चार दिन नींद नहीं आवे तो उसकी हालत खराब हो जाएगी। तुरन्त डॉक्टर के पास दौड़ने लग जाएगा। जब हम सारा दिन काम करते-करते थक जाते हैं तो आँखें बंद होने से अर्थात् सोने से ही अंदर से ताकत का संचार होता है। तब, जब हम सोकर उठते हैं तो अपने में ताजगी महसूस करते हैं।

उसी तरह जब हम मानसिक अशान्ति के कारण परेशान हो जाते हैं, तब आँख बंद करने से अंदर से शक्ति प्राप्त करते हैं। और जब हम विचार शून्य हो जाते हैं तो हमारे शरीर में अद्‌भुत शक्ति का संचार होता है, जिसे हम ध्यान करके अनुभव कर सकते हैं।

हमारे धर्मग्रन्थ रामायण, गीता, महाभारत, वेद सभी महा विज्ञान से भरे पड़े हैं। अब जरा सोचिये लक्ष्मणजी ने जो जूठे बेर फेंके थे वह संजीवनी बूटी हो गई। भगवान राम ने पत्थर को पैर लगाया तो वह नारी हो गई। शवरी माता ने तालाब में पैर रखा तो उसका जल पवित्र हो गया। माता सीता जब आग में प्रवेश की तो आग शीतल हो गई। यह सब क्या है? यह कोई जादू नहीं है, यह महाविज्ञान है।

महाभारत युद्ध में आपने सुना होगा या विडिया देखा होगा कि तीर छोड़ा और वह वापिस आ गया। पुष्पक विमान को जब कहा तो चल दिया, जब रोका तो रूक गया। यह न कोई कहानी है, न कोई जादू, यह महाविज्ञान है। भगवान बुद्ध तो कलयुग में हुए हैं। वे अपने शिष्यों के साथ आकाश मार्ग से जाया करते थे। बहुत से संत महापुरुष अपने शरीर से निकलकर विचरण करते हैं और फिर वापिस अपने शरीर में आ जाते हैं।

मीराबाई को जब आग पर चलाया गया तो आग शीतल हो गई। प्रहलाद भक्त को तरह-तरह से कष्ट दिये जाने पर भी उसका बाल बाँका नहीं हुआ।

हमारे धर्मग्रन्थ भरे पड़े हैं, सच्चाई और महाविज्ञान से।

यह कोई जादू नहीं है। इन सारी शक्तियों का खजाना हम सबके अंदर भरा पड़ा है। जिन महापुरुषों ने ये शक्तियाँ पाई हैं, उन्होंने अपने समय का सदुपयोग कर गुरुकुल में ज्ञान को प्राप्तकर अपनी शक्तियों को जगाया है। और हमलोग अज्ञानतावश या यों भी कह सकते हैं कि उस शिक्षा के अभाव में जो हमें गुरुकुल से प्राप्त होता था, अपनी शक्तियों को जगा नहीं पाये हैं।

हम सभी यदि इस बात को जान पायेंगे कि हमारे अंदर भी वे सारी शक्तियाँ हैं जो उनलोगों के अंदर थीं और हम किस तरह इसे पा सकते हैं तो हममें से कोई भी यह चाहेगा कि हम भी उसे हासिल करके रहेंगे, चाहे जितना भी परिश्रम क्यों न करना पड़े।

सारी शक्तियाँ हमारे अंदर हैं, कैसे ?

सारी शक्तियाँ परमात्मा के अंदर हैं और हम परामात्मा के अंश हैं, इसलिए सारी शक्तियाँ हमारे अंदर भी हैं। जैसे एक इमली के छोटे बीज में यह ताकत होती है कि वह उससे बड़ा पेड़ बना सकता है। बीज को पहले अपने आपका त्याग करना पड़ता है, सड़ना पड़ता है, अपने को मिट्टी को समर्पित करना पड़ता है, तब उसमें यह काबीलियत आती है कि वह उतने बड़े पेड़ का निर्माण कर सकता है।

यह पढ़ाई कौन-सी है?

जैसा हम पहले भी पढ़ चुके हैं शरीर विज्ञान, वैसे ही अब पढ़ेंगे शरीर महाविज्ञान है। शरीर विज्ञान में नस-नाड़ियों की जानकारी करते थे। अब हम जानेंगे कि हमारा यह शरीर महज मांस का लोथरा नहीं है, बल्कि यह बड़ा भारी खजाना भी है।

कैसे? कहा गया है कि इसके अंदर सभी देवता, सभी तीर्थ, सभी विद्यायें; सब कुछ विराजमान हैं। दूसरी बात कि हम इन्हें जानेंगे कैसे? गुरू के उपदेश से। तीसरी बात कि हम पायेंगे कैसे? उसी को हमें जानना है। उसी के लिए हमें इस पुस्तक की जरूरत पड़ी। उसके लिए हमें जो पढ़ाई करनी है, उसका नाम है–सत्संग और साधना। सत्संग का अर्थ है संतों की वाणी का

संग। यदि कोई महापुरुष प्रत्यक्ष न भी मिले तो हम कुछ समय के लिए उनकी लिखी पुस्तकों, महाकाव्यों का पठन-पाठनकर उनसे मार्गदर्शन ले सकते हैं।

जब हम सत्संग करेंगे, गुरु के बताये मार्ग पर चलेंगे तो हमारी वह पढ़ाई पूरी होगी और हम पास होकर महाविज्ञान की जानकारी हासिल कर पायेंगे।

भगवान श्रीकृष्ण की लीला में आता है कि माता यशोदा जब उन्हें बांधने लगी तो दो अंगुल रस्सी छोटी पड़ गई। पूरे घर की रस्सी से बांधने लगी तो भी दो ही अंगुल रस्सी छोटी रही, न कम न बेसी। फिर जो हमारे रामचरितमानस में चर्चा है, नीलगीरि एवं सुमेरु पर्वत की वह क्या है? सबकुछ हमारे शरीर में ही है और ये सब कोई जादू नहीं, बल्कि इसमें वैज्ञानिक कारण है। जैसे हमें अच्छे नम्बर लाने हो तो हम जी-जान से पढ़ाई करते हैं, वैसे ही यदि हमें यह जानना और अपनाना हो तो हमें इसके लिए वैसी ही पढ़ाई करनी पड़ेगी। अब हमें यह जानना है कि यह कौन सी पढ़ाई है, कैसे करनी होगी और इससे हमें क्या-क्या लाभ हैं?

शिव संहिता पढ़कर देखिए, उसके द्वारा गुरुदेव ने स्पष्ट कर दिया है कि हमारे पुराणों में महाविज्ञान किस तरह शामिल है। हम देखें:–'सिद्धासन के समान कोई आसन नहीं, कुम्भक के समान कोई बल नहीं, खेचरी के समान कोई मुद्रा नहीं और न ही नाद के समान कोई लय है।' कितना स्पष्ट कर दिये है। 'आज्ञाचक्र कमल (जिसे हम तीसरा नेत्र कहते है) में जो कोई ध्यान करते हैं तो उसके सारे पूर्वजन्म-कृत पाप नष्ट हो जाते हैं।'

देहस्थाः सर्व्वविद्याश्च देहस्थाः सर्व्वदेवताः।
देहस्थाः सर्व्वतीर्थानि गुरुवाक्येन लभ्यते।।

हमारे इसी शरीर में सारी विद्याएँ, सब देवता और सब तीर्थ विराजमान हैं। केवल गुरु के उपदेश से ही देहस्थित ये सब विद्या, देवता और तीर्थ जाने जाते हैं। अब हमें देखना है कि इस पढ़ाई की शुरुआत कैसे करनी चाहिए।

साथ ही बतलाते हैं कि हमारे शरीर के अंदर 72 करोड़-नस

नाड़ियाँ है, जिनमें एक सौ एक तथा उनमें तीन नाड़ियाँ प्रधान हैं, जिन्हें हम इड़ा, पिंगला और सुष्मना कहते हैं। उनकी विशेषता क्या है?

इड़ा गंगा, पिंगला यमुना एवं सुष्मना सरस्वती नदी है। तीनों के मिलन को त्रिवेणी संगम कहते हैं। यह भी पढ़ाई करनी है कि हम उस त्रिवेणी में स्नान कैसे करें? हमारा शरीर और संसार पाँच तत्वों से बना है–पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा और आकाश। हवा आकाश से अग्नि हवा से, जल अग्नि से और पृथ्वी जल से उत्पन्न होती है। जल में पृथ्वी, अग्नि में जल, हवा में अग्नि और आकाश में हवा लय होती है।

हमारे शरीर में कौन-कौन सी वायु है और किन-किन अंगों को प्रभावित करती है?

हृदि प्राणःस्थितो, वायुरपाणो गुदसंस्थितः
समानो नाभिदेशो तु उदानः कष्ठमाश्रितः।
व्यानः सर्व्वगतो देहे सर्वगात्रेषु संस्थितः
नाग उर्द्धगतो वायु कूर्म्मस्तीर्थानि संस्थितः।
कृकरः क्षोभिते चैप देवदत्तोदूपि जृम्भेण
धनंचयो नादछोजे निविशेचैव साम्यति॥

प्राण हृदय में, आपान गुदा में, समान नाभी में, उदान कंठ में और व्यान नामक वायु सारे शरीर में व्याप्त है। नाग नामक वायु ऊर्द्धगत है, कुर्मा नामक वायु तीर्थाश्रित है, कूकर नामक वायु क्षोभनस्थ है, देवदत्त वायु जृमणस्थ है तथा धनंजय नामक वायु नाद घोष में प्रवेश होकर सम्य होकर रहता है। हमारे शरीर के अंदर ही पूरा ब्रह्माण्ड है। इसी शरीर रूपी तिजोरी में परमात्मा रूपी धन रहता है। उसको खोलने की चाभी (दीक्षा) गुरु देते हैं। उसे खोलकर निकालिए और परामात्मा को प्राप्त कीजिए।

इस महाविज्ञान की प्राप्ति के क्या उपाय हैं?

सबसे पहले सत्संग। सत्संग क्या है? सत्संग वह पाठशाला है, जिसे परमात्मा का निज अंग भी कहा जाता है। उसके संग से विषयों से असंग होता है। हरि का अभंग रंग लगता है और अंत

में हम इनके द्वारा पूर्ण विज्ञान की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं।

जैसे कोई नदी में तैरनेवाला नदी में तैरते-तैरते थक जाय और ऐसी अवस्था में प्रभु कृपा से यदि वहाँ चट्टान मिल जाय, तो उस पर विश्राम कर, फिर आगे का रास्ता सरलता से तय कर सकता है। उसी प्रकार भवसागर में डूबते हुए प्राणी के लिए सत्संग ही चट्टान है और ध्यान के द्वारा प्रभु मिलन होकर सभी कार्य पूरे हो जाते हैं। जैसे नाले का अपवित्र जल गंगा में मिलकर पावन हो जाता है, उसी तरह दूषित चित्त सत्संग पाकर पवित्र होता है। हमारी सारी गंदगी को सत्संग समूल नष्ट कर देता है।

सत्संग क्या है?

सत्संग तीर्थ ही नहीं महान तीर्थ है। हमलोग प्रयाग, हरिद्वार, काशी आदि तीर्थों में जाते हैं। त्रिवेणी में स्नान करते हैं। उस त्रिवेणी के स्नान से केवल तन का मैल नष्ट होता है, किन्तु अपने अंदर चेतनधार में स्नान करने से आत्मा पवित्र होती है।

दिनकर के बिना दिन नहीं, रात्रि रहेगी।
संतों के बिना शांति नहीं भ्रान्ति रहेगी॥

संत निरहंकारी, क्षमाव्रतधारी, पर-उपकारी, सदाचारी, ब्रह्मचारी होते हैं। संत सद्गुरु महाविज्ञान के शिक्षक होते हैं। वे परमात्मा को प्राप्त किये हुए होते हैं। उनके आदेश में अपने को रखने से दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों ताप दूर हो जाते हैं।

जीवन का सबसे बड़ा फल है–अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। जो संतों की सेवा करते हैं, वे शरीर रहते हुए चारो फल प्राप्त कर लेते हैं। तो इस महाविज्ञान को जानकर हमें प्राप्त करने के लिए कुछ भी बाकी नहीं रहता।

जैसे शरीर के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे ही आत्मोन्नति के लिए भजन आवश्यक है। भजन से आपके अंतर में प्रकाश होता है। मानव को चाहिए कि अपना लक्ष्य निश्चित करे। लक्ष्यविहीन मानव पतवार-विहीन नाव की भाँति ठोकरे खाता रहेगा और रसातल में विलीन हो जाएगा। वह दुःखों के बंधन से तभी छूटेगा जब सारशब्द को पकड़ लेगा।

हमें अपना क्षण इस अनमोल खजाने को पाने में ही लगाना चाहिये। क्योंकि आयु का एक क्षण भी संसार के सब रत्नों से नहीं पाया जा सकता। उस आयु को जो व्यर्थ खोता है, वह बड़ा भारी अज्ञानी है।

यदि हमें कहीं जाना है तो हम टिकट, रुपये, सारे सामानों की पूरी तैयारी पहले ही कर लेते हैं। यह सोचकर कहीं हमें वहाँ किसी तरह का कष्ट न हो जाय, अथवा नई जगहों में परेशानी न हो जाय। उसी प्रकार हम जहाँ जायेंगे क्या हमें वहाँ के बारे में पूर्ण जानकारी है? हमें वहाँ के बारे में पूर्ण जानकारी होनी चाहिये, वहाँ के लिए पूरी व्यवस्था होनी चाहिये। नहीं तो शरीर छुटने के बाद हमारी आत्मा घोर कष्ट का अनुभव करेगी।

हम कहते हैं कि मरने के बाद कौन जानता है, क्या होगा? कहीं का हाल वे ही ठीक-ठीक जान सकते हैं, जो वहाँ जाकर आए हैं। उसी तरह जो पहुँचे हुए संत होते हैं, वे वहाँ जाकर आये हुए होते हैं और वे हमें बतलाते हैं, हमारा मार्ग-दर्शन करते हैं। यदि हम विश्वास करके उनकी कही बातों को अपने आचरण में उतारेंगे तो हम भी अवश्य वहाँ पहुँच जायेंगे।

मानव-जीवन अनमोल है। इसको पाकर अनमोल सौदा करना चाहिए। और वह है, इस महाविज्ञान का ज्ञान हासिल करना। इस संसार में अच्छी और बुरी सभी चीजें शामिल हैं। हमें हंस बनकर अच्छाई को ग्रहणकर, बुराई को छोड़ देना है। शुभ कार्य को शीघ्र करना चाहिये तथा अशुभ करने में जितनी देर हो सके, करें। उचित कार्य के लिए जो उपयुक्त समय हो, सचेष्ट होकर सम्पन्न करना बुद्धिमानी का काम है।

महाविज्ञान का सार क्या है? हमें जानना है कि हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं और कहाँ जाना है? जब हम अपने स्वरूप को पहचान लेंगे तो हम वही हो जायेंगे।

परमपूज्य गुरुदेव महर्षि संतसेवीजी महाराज ने कहने की कृपा की थी–'हम जानते हैं कि ये हमारी पत्नि है, ये हमारे पति हैं, ये हमारे बच्चे हैं, ये हमारा घर है, ये हमारा धन है, ये हमारे

पड़ोसी है, ये हमारा कारखाना है, देश के साथ विदेश की बात भी हम जानते हैं, पर कितने आश्चर्य की बात है कि हमें यह नहीं पता कि हम कौन है?'

स्वयं कहते हैं, अपने को कि हम कौन है? भगवान महावीर ने कहा था–'आत्मानं विद्धि।' आत्मा को पहचानो और जानो, अपना धर्म यही है। अपने को नहीं जानकर हम इन्द्रिय धर्म में बरत रहे हैं। इस चक्र में हम बंधे हुए कष्ट पाते हैं। श्री मद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण का वचन है–'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः।' स्वधर्म के लिए मर मिटना श्रेयस्कर है, लेकिन परधर्म भयावह है। उपनिषद् में यम ने नचिकेता को समझाया–'हमलोगों का शरीर रथ है, आत्मा रथी है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है और बुद्धि सारथी है।' हम अपने को जानें, केवल एक अपने को जान लेने के बाद और कुछ जानने के लिए बाकी नहीं रह जाता।

श्रीरामकृष्ण परमहंस देवजी के पास जाकर एक सद्गृहस्थ ने कहा–'देव! मैं गृहस्थ हूँ मेरे पास समय का अभाव है। जागतिक कार्यों में हमारा समय लगता है। इसलिए आप एक ऐसा उपदेश दीजिए जिसको जान लेने के बाद और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रह जाय।' श्रीरामकृष्ण परमहंस ने उत्तर दिया–'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या' यह जान लेने पर और कुछ जान लेने के लिए बाकी नहीं रह जाएगा।

ब्रह्म सत्य है और जगत भ्रम है, कल्पित है। जो सत्य तत्त्व है, वह स्थिर है और जो असत्य है वह अस्थिर है। जब हम स्थिर तत्त्व को प्राप्त करते हैं, तो उससे जो सुख-शान्ति मिलती है, वह स्थिर सुख-शान्ति मिलती है। दुनिया असत्य होने के कारण दुनिया को हम पकड़ते हैं, तो उससे जो कुछ भी सुख-शान्ति मिलती है, वह क्षणिक होती है। दुनिया नाशवान है, तो उसका सुख उसकी शान्ति चिर सुख-शान्ति देनेवाली नहीं हो सकती। अपने को हम जानें, कैसे जाने? कहाँ जाने? तो आपलोगों ने सत्संग के आरम्भ में सुना है।

'निज तन में खोज सज्जन, बाहर न खोजना।
अपने ही घट में हरि हैं, अपने में खोजना॥'

'अंतर के अंतिम तह में गुरु हैं, मन पता पाता नहीं।
नैनों के तिल में जोति उनकी, नजर में आता नहीं॥'

उस सुख-शान्ति को खोजने के लिए लोग संसार में भटकते हैं। लेकिन संसार में सुख-शान्ति नहीं है। सुख-शान्ति आत्मा में है और उस आत्मा की प्राप्ति अपने अंदर में ही होगी। जिस दिन जिस क्षण आत्मोपलब्धि होगी उसी क्षण परमात्मा की प्राप्ति होगी। इसलिए हम अपने को जानें, कैसे जाने? हम शरीर को देखते हैं। इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं। अपने को हम शरीर से हटकर देखें, तभी अपना ज्ञान होगा। क्योंकि वह आत्मा अंतर के अंतिम तह में है। जिसको हम परम प्रभु परमात्मा कहते हैं, वह भी अंतर के अंतिम तह में ही है। यह जो देख रहे हैं–स्थूल शरीर है। इसके अंदर सूक्ष्म शरीर है, उसके अंदर कारण शरीर है, उसके अंदर महाकारण शरीर है। ये चार जड़ शरीर हैं। इन चारो जड़ों को जब हम पार कर जायेंगे तब अपने स्वरूप का ज्ञान होगा और जब अपने स्वरूप का ज्ञान होगा तब परमात्मा दूर नहीं रहेंगे। अपने को पहचानने के लिए, परमात्मा को पहचानने के लिए हम कहाँ से शुरु करें। तुलसी साहब ने कहा–

'क्यों भटकता फिर रहा तू ऐ तलाशे यार में।
रास्ता शहरग में है दिलवर पै जाने के लिए॥'

रास्ता का आरम्भ सुषुम्ना से है, आज्ञाचक्र से है। आज्ञाचक्र कहने का मतलब है–हमलोगों के शरीर मे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, कंठ ये नीचे के पाँच चक्र हैं और उनके उपर छठा चक्र है, आज्ञा चक्र। जो कोई इस छठे चक्र में पहुँचता है तो प्रभु की ओर से उनके दरबार में आने की आज्ञा मिल जाती है। इसलिए इसका नाम है–'**आज्ञाचक्र**'।

जब तक हम इस आज्ञाचक्र के रास्ते को नहीं पकड़ते हैं तब तक भवचक्र में हम पड़े रहेंगे। लेकिन आज्ञाचक्र में हम

जायेंगे कैसे? तो बतलाया–

'बिन दया संतन की मेँही, जानना इस राह को।
हुआ नहीं होता नहीं, वो होनहारा है नहीं॥'

संत सद्गुरु की शरण जायँ, उनसे हम उस क्रिया विशेष को जानें और करें। क्रिया कोई कठिन नहीं है, सरल और सुखद है। यही महाविज्ञान है। इसी महाविज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति संभव है।

कबीर साहब ने कहा है–'पसरा मना बटोर।' हमारा मन पसरा हुआ है। उस मन को हम समेटें। मन को समेटने के लिए कुछ-न-कुछ अवलम्ब चाहिए। स्थूल शरीर में हम हैं, तो कुछ स्थूल अवलम्ब लेना आवश्यक है। जैसे पानी में डूबता हुआ प्राणी पानी का सहारा लेकर तैरते-तैरते सूखी जमीन पर जाता है, उसी तरह यह संसार नामरूपात्मक है। नाम-रूप का अवलम्ब लेकर ही अनामी-अरूपी परमात्मा तक पहुँच सकेंगे। इसके लिए पहले नामजप और रूपध्यान है। उसके द्वारा मन का कुछ सिमटाव होता है। नामजप में बहुत से लोग अँगुलियों पर गिनते हैं या माला पर गिनते हैं, लेकिन परमात्मा के दरबार में गिनती का महत्व नहीं है। प्रेमपूर्वक श्रद्धापूर्वक और एकाग्रतापूर्वक जितनी देर हम जप करेंगे, उसी की गिनती है। जप में वाचिक जप, उपांशु जप, श्वास जप और मानस जप है। जपों में मानस जप श्रेष्ठ होता है। इसलिए मानस जप करें, फिर मानस ध्यान करें। जिस नाम का हम जप करते हैं, उस नाम से संबधित जो रूप है, उस रूप को हम ग्रहण करें। जप से मानस ध्यान में कुछ अधिक सिमटाव होता है। लेकिन पूर्ण सिमटाव के लिए जिससे हम आज्ञाचक्र में प्रवेश कर सकें, दृष्टियोग की साधना है। दृष्टियोग की साधना द्वारा सुषुम्ना में, आज्ञाचक्र में प्रवेश होता है। वहाँ पूर्ण सिमटाव होता है। पूर्ण सिमटाव से ऊर्ध्वगति होती है। ऊर्ध्वगति होने से जिस स्तर पर रहते हैं, उसके ऊपर के स्तर पर चले जाते हैं।

जब हम पूजा-ध्यान करने के लिए बैठते हैं, तो आँखें बंद करके बैठते हैं। आँखें बंद करके ही हम जप करते हैं। आँखें बंद

करके ही मानसध्यान करते हैं। आँखें बंद करने पर अंधकार मालूम पड़ता है। उस अंधकार को पार करके प्रकाश में प्रतिष्ठित होंगे। वहाँ से आगे बढ़ने के लिए फिर गुरु से नादानुसंधान की क्रिया जानी जाती है। वह नादानुसंधान परम प्रभु परमात्मा तक पहुँचा देता है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति जहाँ से हाती है, उसको पकड़ने पर वह वहाँ तक ले जाता है। नाद की उत्पत्ति परम प्रभु परमात्मा से है और उस नाद को पकड़ने पर वह परमप्रभु परमात्मा के पास ले जाता है।

नाद में भी पहले अनहद नाद है। उस अनहद नाद की साधना के द्वारा अनाहत नाद को पकड़ते हैं। वह अनाहत नाद ही ॐ, स्फोट, उद्गीथ, प्रणव आदि विविध शब्दों से पुकारा जाता है। योगशास्त्र में बताया गया है–'तस्य वाचकः प्रणवः' उस परमप्रभु परमात्मा का वाचक ॐ है, प्रणव है। यह अंतिम नाद है। यह परमात्मा तक पहुँचा देता है। पहले मानसजप, मानसध्यान, दृष्टि-साधन के द्वारा जड़ात्मक मंडल को पार करते हैं, फिर नादध्यान के द्वारा चेतन मंडल को पार कर जाते हैं। इस नाद को सारशब्द कहते हैं।

सारशब्द कपाल भीतर होत अनहद शोर।
मन रे तू लागि रहो यही ओर॥

–शिवनारायण स्वामी

इस तरह जड़ात्मक मंडल पार करने पर अपने स्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है और परमात्म-स्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है। यह बाहर का रास्ता नहीं है, यह रास्ता अपने अंदर का है। अंदर-अंदर चलने पर ही अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। जब तक अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा, परमात्म-स्वरूप का ज्ञान भी नहीं होगा। आत्म-स्वरूप का ज्ञान नहीं होने के कारण हीं हम आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं। दैहिक, दैविक और भौतिक त्रयतापों से संतप्त होते रहते हैं। सुख-दुःख के थपेड़े में पड़े रहते हैं। जो इन साधनों को करते हैं, वे आत्म-स्वरूप का लाभ करते हैं। वे सुख-दुःख, लाभ-हानि, जन्म-मरण, बंध-मोक्ष सबसे ऊपर

उठ जाते हैं, स्वप्रतिष्ठित हो जाते हैं यही महाविज्ञान है। मृत्यु के रहस्य को जानना आत्मप्रतिष्ठित हो जाना ही महाविज्ञान को जानना है।

समुद्र जब नदी में मिल जाती है तो उसकी संज्ञा नदी की नहीं रहती, समुद्र हो जाती है। जो जीव परमात्मा में जाकर मिल जाता है, वह जीव नहीं, पीव यानी परमात्मा हो जाता है। जो जल समुद्र में जाकर मिल गया वह उल्टा नदी में नहीं आता है। उसी तरह जो जीव परामात्मा में मिल गया वह फिर इस संसार में नहीं आता है।

गोस्वामी तुलसीदाजी के शब्दों में–

शोक मोह भय हरष दिवस निसि, देश काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यही दशा हीन संशय निर्मूल न जाहीं॥

(विनय-पत्रिका)

यही जीवन का लक्ष्य है, यही मानव-जीवन का रहस्य है। यही महाविज्ञान है।

हम बाह्य आकाश में बिजली चमकते हुए देखते हैं। वेद कहता है कि जिस समय तुम सुषुम्ना में पहुँचोगे तो वहाँ तुमको दिव्य बिजली मिलेगी। हमारे परमपूज्य गुरुदेव के वचन में आया है–

'छट-छट छट-छट बिजली छटके भोर का तार दिखाता है'

भगवान शंकर ने ब्रह्माजी को उपदेश देते हुए कहा–

एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्मृता
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी॥

त्रिवेणी संगम

हमलोगों के शरीर में बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं। उन 72 करोड़ नाड़ियों में 101 नाड़ियाँ मुख्य हैं। इन 101 नाड़ियों में 9 नाड़ियाँ मुख्य हैं। इन 9 नाड़ियों में 3 नाड़ियाँ मुख्य हैं। इन तीन नाड़ियों में एक नाड़ी मुख्य हैं और वह है–सुषुम्ना। वह सत्व प्रधान नाड़ी है। सुषुम्ना नाड़ी कहाँ से और कैसे मिलेगी, इस

संदर्भ में पुनः भगवान शंकर कहते हैं–

वामदक्षे निरुन्धन्ति प्रविशन्ति सुषुम्नया।
ब्रह्मरन्ध्र प्रविश्यान्तरते यान्ति परमां गतिम्॥

जो बायें और दायें (बायीं धार और दायीं धार) को रोककर एक करता है, वह सुषुम्ना में प्रवेश करता है; वह ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेशकर ब्रह्म को प्राप्त करता है।

पुनः ब्रह्मजी जिज्ञासा करते हैं। यह बायां और दायां क्या है? भगवान शंकर समाधान करते हुए कहते हैं–

इड़ा तिष्ठति वामेन पिंगला दक्षिणेन तु।
तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तद्वेद स वेदवित्॥

(योगशिखोपनिषद्, अध्याय-६)

इड़ा बायीं ओर रहती है और पिंगला दाहिनी ओर। उन दोनों के बीच में जो स्थान है (सुषुम्ना), उसको जो जानता है, वही वेद जानता है। वास्तव में वही ज्ञान जानता है, वही ज्ञानवान होता है। इस तरह की बात हम तंत्रशास्त्र में भी पाते हैं–

इड़ा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इड़ा पिंगलायोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥
त्रिवेणी संगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्व्वपापैःप्रमुच्यते॥

(ज्ञानसंकलिनी तंत्र)

इड़ा बायीं ओर और पिंगला दायीं ओर रहती है। इड़ा को गंगा और पिंगला को यमुना नदी कहते हैं। बीच की नाड़ी को सुषुम्ना (सरस्वती) कहते हैं। इन तीनों के संगम को तीर्थराज कहते हैं। इस त्रिवेणी संगम में जो स्नान करते हैं, उनको सर्व पापों से मुक्ति मिलती है। भगवान शंकर कहते हैं–

सुषुम्नैव परं तीर्थं सुषुम्नैव परो जपः।
सुषुम्नैव परं ध्यानं सुषुम्नैव परा गतिः॥

(योगशिखोपनिषद्)

जो सुषुम्ना-तीर्थ में स्नान कर लेता है, उसको फिर और किसी तीर्थ में स्नान करने की आवश्यकता नहीं रह जाती; बल्कि

बाह्य जगत में जितने तीर्थ हैं, उन तीर्थों में स्नान करने से तन की पवित्रता होती है; लेकिन सुषुम्ना तीर्थ में स्नान करने से मन की पवित्रता होती है, मन उज्ज्वल हो जाता है, निर्मल हो जाता है। भगवान शंकर सुषुम्ना की महिमा-गाथा गाते हुए अघाते नहीं; पुनः वे ब्रह्मजी से कहते हैं।

सुषुम्नायां यदा योगी क्षणैकमपि तिष्ठति।
सुषुम्नायां यदा योगी क्षणार्धमपि तिष्ठति॥
सुषुम्नायां यदा योगी सुलग्नो लवणाम्बुवत्।
सुषुम्नायां यदा योगी लीयते क्षीरनीरवत्॥
भिद्यते च तदा ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते परमाकाशे ते यान्ति परमां गतिम्॥

सुषुम्ना में जब योगी एक क्षण भी ठहरता है, सुषुम्ना में जब योगी आधा क्षण भी ठहरता है, सुषुम्ना में जब योगी पानी और नमक के समान मिल जाता है और सुषुम्ना में जब योगी दूध और पानी के समान मिल जाता है, तब (उसकी) ग्रन्थि (गिरह–गाँठ) टूट जाती है, उसके सम्पूर्ण संशयों का नाश हो जाता है और वह परमाकाश में विलाकर परमगति को प्राप्त कर लेता है। पुनः भगवान शंकर कहते हैं–

'गंगायां सागरे स्नात्वा नत्वा च मणिकर्णिकाम्।
मध्यनाड़ी विचारस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥'

गंगा सागर में स्नानकर मणिकर्णिका को प्रणाम करना (इसका जो फल होता है, वह) मध्य नाड़ी सुषुम्ना के विचार के (फल के) सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं हैं।

'अश्वमेध सहस्त्राणि वाजपेयशतानि च।
सुषुम्ना ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥'

हजारों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ सुषुम्ना-ध्यानयोग का सोलहवाँ भाग भी नहीं है।

एक अश्वमेघ यज्ञ करना तो महा मुश्किल होता है, सैकड़ो और हजारो यज्ञ करना क्या सहज, सरल और सम्भव है? फिर भी यदि कोई कर भी ले, तो सुषुम्ना ध्यान की तुलना में

तुच्छ होगा।

'अनेक यज्ञदानानि व्रतानि नियमास्तथा।
सुषुम्नाध्यानलेशस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥'

अनेकों यज्ञ, दान, व्रत और नियम; स्वल्पमात्र सुषुम्ना-ध्यान के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हैं।

'सुषुम्नायां प्रवेशेन चन्द्रसूर्यौ लयं गतौ।'

(योगशिखोपनिषद्)

सुषुम्ना में प्रवेश करने से चन्द्र-सूर्य लय होते हैं। समझने की बात है कि अभी हमलोग जाग्रत अवस्था में हैं। हमारे सामने दिन में सूर्य और रात में चन्द्रमा होता है, लेकिन जो सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं, तो उनको न रात का ज्ञान रहता है और न दिन का ही। इस विषय की बात हमारे गुरुदेव के वचन में इस भाँति आई है; उन्होंने अपनी अनुभूति लिखी है–

'साधन में पगि जाई, अतिहि गम्भीर हो।
या तन सुधि नहिं रहे, धीर वीर सो॥
साँझ भोर दिन रैन, कुछ जानै नाहीं।
अरे हाँ रे मैंहीं बाहर जड़वत् रहै, माहिं चेतन सही॥'

इस क्रिया में बाहर के चन्द्र और सूर्य तो लय हो ही जाते हैं, बात रही भीतर की। उस विषय में बात ऐसी ही है–बायीं धार को चन्द्रनाड़ी और दायीं को सूर्यनाड़ी कहते हैं। दायीं धार उष्ण और बायीं धार शीत है। सुषुम्ना में प्रवेश करने पर ये दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। दोनों का पृथक-पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। इस दृष्टि से ये सूर्य-चन्द्र भी विलीन हो जाते हैं। संत कबीर साहब कहते हैं–

'गगन की ओट निशाना है।
दाहिने सूर चन्द्रमा बायें, तिनके बीच छिपाना है॥'

पवित्र बाईबिल में लिखा है–'यदि तेरी आँख एक हो तो तेरा सारा शरीर उजियाला होगा।'

जो कोई सुष्मुना में प्रवेश करते हैं, उनको अन्तःप्रकाश मिलता है और वे प्रकाश विविध भाँति के होते हैं। कुरआन

शरीफ में लिखा है कि अल्लाह ने मूसा से कहा–तुम मुझे नहीं देख सकते, पहाड़ को देखो। वह पहाड़ को देखने लगा। देखते-देखते पहाड़ चूर-चूर हो गया, एक तारा निकल आया। मूसा को संतोष हुआ कि कुछ मिला है। देखते-देखते चन्द्रोदय होता है, तब वह कहता है–यह उससे बड़ा है। देखते-ही-देखते सूर्योदय हो जाता है। मूसा कहता है–उससे यह बहुत बड़ा है।

इस विषय में हमारे परम पूज्य गुरुदेव का कथन है कि साधक को साधना-काल में तारे, चन्द्र और सूर्य के दर्शन होते हैं; यथा–

'चमके तारा सुषमन द्वारा, सहस कमल लख री।
त्रिकुटी सूरज ब्रह्म दरस कर, सुरत शब्द रल री॥'

तथा–

'चन्दा उगत उदय हो रबिहू, धूर शब्द मिल जाता है।'

(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

जब कोई साधक अपने को आज्ञाचक्र में प्रतिष्ठित कर पाता है यानी दसवें द्वार में प्रतिष्ठित कर पाता है, तो वृत्ति का पूर्ण सिमटाव होता है। सिमटाव में ऊर्ध्वगति होती है और अपने अंदर आज्ञाचक्र में तारे, सहस्त्रदल-कमल में चन्द्र और त्रिकुटी में सूर्य के दर्शन करता है। निष्कर्ष यह कि साधक जब अन्तस्साधना करने के लिए बैठता है, तो वह अपनी आँखों को बंद कर लेता है। वह बाह्य जगत को विस्मृतकर अन्तर्जगत में गुरुनिर्देशित स्थान पर अपने को स्थितकर मानस-जप और मानस ध्यान करता है। उस समय उसको बाह्य-जगत के चन्द्र वा सूर्य का ज्ञान नहीं रहता।

जब क्रिया-विशेष (दृष्टियोग) के द्वारा साधक अपनी युगल दृष्टिधारों को एकत्र करता है, तो बायीं और दायीं यानी चन्द्र और सूर्य; दोनों नाड़ियाँ सुषुम्ना में एक हो जाती है। इस प्रकार वहाँ के दोनों चन्द्र-सूर्य लय हो जाते हैं।

साधना में अग्रसर होने पर सहस्त्रार में उसको चन्द्र और त्रिकुटी में सूर्य के दर्शन होते हैं। नादानुसंधान क्रिया के द्वारा जब

वह त्रिकुटी से आगे शून्य, महाशून्य, भँवरगुफा और सतलोक में अवस्थित होता है, तो अंतर के भी चन्द्र और सूर्य नहीं रहते और साधक के सारे क्लेश निःशेष हो जाते हैं। वह दुःख के देश को पारकर सुख के देश में प्रवेश कर जाता है। इसलिए परमपूज्य गुरुदेव की वाणी में आया है–**'छूटेउ दुख को देश'** और गोस्वामी जी ने लिखा है–

'सोक मोह भय हरष दिवस निसि, देश काल तहँ नाहीं।'

इससे मिलती-जुलती बात संत कबीर साहब कहते हैं–

कहौं उस देश की बतियाँ, जहाँ नहीं होत दिन रतियाँ।
नहीं रवि चन्द्र औ तारा, नहीं उँजियार अँधियारा।
नहीं तहँ पवन औ पानी, गये वहि देश जिन जानी।
नहीं तहँ धरनि आकाशा, करै कोई संत तहँ वासा।
उहाँ गम काल की नाहीं, तहाँ नहीं धूप औ छाहीं।

संतों की वाणियों में हम विलक्षण साम्य पाते हैं। वहाँ दिन-रात की कोई बात नहीं रहती। इस भाँति साधक के समक्ष उपर्युक्त किसी प्रकार का चन्द्र वा सूर्य नहीं रहता। वहाँ मात्र आत्म-प्रकाश रहता है। इसलिए संत कबीर साहब कहते हैं–

सखिया वा घर सबसे न्यारा, जहाँ पूरन पुरुष हमारा।।
जहाँ नहीं सुख दुख साँच झूठ नाहिं, पाप न पुन्न पसारा।
नहिं दिन रैन चन्द नहिं सूरज, बिना जोति उँजियारा।।

जहाँ चन्द्र सूर्य तारे दिन-रात आदि नहीं हैं, यह इस लोक की–इस बाह्य जगत की बात नहीं हैं। वह तो अध्यात्म-जगत की बात है। गुरुनानक देवजी महाराज कहते हैं कि परमात्मधाम में यद्यपि चन्द्र, सूर्य, तारे वा गैणारे कुछ नहीं है, फिर भी वह आत्मलोक आत्म-आलोक से आलोकित होता रहता है–

झिलमिल झलकै चंदु न तारा।
सूरज किरणी न बिजुलि गैणारा।।
अकथी कथहु चिहनु नहिं कोई।
पूरि रहिआ मन भाइदा।।

संत चरणदासजी महाराज कहते हैं–

'जहाँ चंद नहिं सूर जहाँ नहिं जगमग तारे।
जहाँ नहीं त्रैदेव त्रिगुण माया नहिं लारे।।

कितना गिनाया जाय, संतों की वाणियों में इसकी भरपूर चर्चा मिलती है। कठोपनिषद् में लिखा है–

'न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।'

वहाँ (उस आत्मलोक में) सूर्य प्रकाशित नहीं होता चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत ही चमचमाती है, फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है। और उसके प्रकाश से ही यह सब कुछ भासता है। श्रीमद्भगवद्गीता में महायोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण का वचन है–

'न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।'

इस प्रकार सुषुम्ना में प्रवेश करने पर सभी प्रकार के चन्द्र और सूर्य की विलीयमानता हो जाती है।

सुरत-शिरोमनि घाट

सन्त तुलसी साहब ने सुषुम्ना को सुरत-शिरोमनि घाट कहा है–

'सुरति सिरोमणि घाट, गुमठ मठ मृदंग बजै रे।'

सुरत शिरोमणि घाट वह है, जहाँ विन्दु मिलता है। जिसको वह विन्दु मिल गया, वही चलते-चलते एक दिन भवसिन्धु को पार कर सकेगा। यह सुषुम्ना ध्यान की महिमा है। सुषुम्ना-ध्यान करना सबके लिए सरल और स्वाभाविक है। इसमें न हाथ मैला, न पैर मैला, कहीं जाने-आने की कोई आवश्यकता नहीं। घर में बैठकर कीजिए। परमात्मा ने आपको जैसी योग्यता दी है, तदनुकूल आसन पर बैठिए और सरल एवं सहज साधना कीजिए। गृहस्थ-विरक्त, धनी-निर्धन, विद्वान-अविद्वान; सभी कोई कर सकते हैं। क्या नर क्या नारी; सभी इसके समान अधिकारी हैं।

'जितने मनुष तनधारि हैं, प्रभु भक्ति कर सकते सभी।'
(महर्षि मेँहीँ-पदावली)

गुरुनानकदेवजी महाराज कहते हैं–

'चहु वरणा को दे उपदेश, ता पंडित को सदा अदेश।'

तथा–

राज महि राज योग महि योगी।
तप में तपीसुर गृहस्थ महि भोगी॥
ध्याय ध्याय भक्तः सुख पाया।
नानक तिस पुरुष का किन अन्त न पाया॥

यही एक सुषुम्ना-मार्ग है, जहाँ से चलकर प्रभु के पास पहुँचा जाता है।

हमें कैसा बनना है?

जिज्ञासा:-हमें कैसा बनना है? समाधानः–कमल की तरह। जिज्ञासा:-कमल का इतना महत्व क्यों है? महापुरुषों के अंगों की उपमा कमल से क्यों दी गई है? हमें कमल के समान संसार में रहने क्यों कहा गया है?

समाधान:-महापुरुषों के हरेक अंगों की उपमा कमल से दी गई है। जैसे नयन कमल, चरण कमल, हृदय कमल, कर कमल आदि। कमल में क्या गुण है, हम विचार करें। कमल जल में रहता है एवं उसकी जड़ कीचड़ में रहती है। फिर भी कमल का फूल हमेशा कीचड़ और पानी से आलिप्त होकर संसार को अपनी सुदंरता से प्रभावित करता है। उसी तरह महापुरुष संसार के पंक एवं संसार-सागर में रहते हुए उससे भींगते नहीं। उससे अलिप्त रहते हैं। आसक्त नहीं होते, अनासक्त रहते हैं।

हमारी पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है। आँख से हम देखने का काम करते हैं। यदि केवल जरूरत की चीजों को देखें, बाकी चीजों पर ध्यान नहीं दें या कहा जाय दवा के अनुरूप (दवा की तरह) हमें जितनी चीजें देखने की जरूरत है देखें, तो वह हुआ निरासक्त। और हम देखकर उसमें लुभा जायें, यह हुआ आसक्त। इसी तरह सभी इन्द्रियों के बारे में है। हम कान से वही

बातें सुनें जो अच्छी और ज्ञान को ग्रहण करने योग्य हो, फिजुल की बातें सुनकर भी अनसुनी कर दें।

नाक से हम श्वास लेते हैं, किन्तु हम किसी सुगंध में या दुर्गन्ध में आसक्त न हों। मुँह से हम भोजन करते हैं। हम भोजन केवल पेट भरने के लिए या जिन्दा रहने के लिए करें। स्वाद के लिए ठूंस-ठूंस कर न खायें। इस तरह हम संसार में रहते हुए सुन्दर तरीके से अनासक्त भाव से रह सकते हैं। संतों के ज्ञान को ग्रहण कर हम साधना करें। साधना करते-करते ही हम अपनी इन्द्रियों को काबू में कर पायेंगे और कमल की तरह संसार में रह पायेंगे।

इसका उदाहरण है–कपास।

'साधु चरित शुभ सरिस कपासू।
निरस विसद गुणमय फल जासू॥'

हमें अपना जीवन बेहद सुंदर बनाना है, तो क्या-क्या करना होगा? क्या हमें कपास की तरह बनना होगा? वह तो बिल्कुल निरस है, स्वादहीन है, क्या वह ठीक है?

समाधानः–हम देखें कपास के क्या गुण हैं। संतों-महापुरुषों की उपमा ऐसे निरस फल से क्यों दी गई है? कपास ही ऐसा फल है जिसमें कोई रस नहीं (सूखा फल)। संत महापुरुष ही ऐसे होते हैं कि वे अपनी इन्द्रियों से कोई रस नहीं लेते। भोजन करते हैं तो सिर्फ पेट भरने के लिए। हम देखें कपास में और क्या गुण है? वह खुद कष्ट सहता है, काता जाता है, कपड़ा बुना जाता है, बहुत तरह से कष्ट सहकर वह हमारे वस्त्र बनकर हमारे अवगुणों को ढकता है, शरीर की सारी बुराइयों को ढक देता है।

वैसे ही संत-महापुरुष हमारे अंदर के विकारों को हमारे अवगुणों को दूसरों के सामने उजागर नहीं करते और हमारे अज्ञान अंधकार का नाशकर ज्ञान का प्रकाश कर हमारे जीवन को आलोकित कर देते हैं। हमें भी इन महापुरुषों की शिक्षा ग्रहणकर कमल और कपास की तरह बनना है।

हमें संसार से विरक्ति कैसे हो?

जिज्ञासाः—हमें इस संसार से विरक्ति कैसे होगी?

समाधानः—यदि हम संसार की अनित्यता को नित्य याद रखेंगे तो हमें संसार से अपने-आप विरक्ति हो जाएगी। जैसे हम उनलोगों के बारे में जानने की कोशिश करें, जो संसार में रहकर भी संसार से विरक्त रहे और अपना काम बना लिये। माता शवरी को देखें। वे जब छोटी थी, तो वे पेड़ के पत्तों से शिक्षा लेती थी। वह काफी संस्कारी थी। वह पेड़ के नीचे जाकर अकेली खड़ी रहती, और पेड़ के टूटे हुए पत्तों को देखकर शिक्षा लेती थी। टूटे हुए पत्ते फिर पेड़ में वापिस नहीं जुड़ते। वह पेड़ के टुटे हुए पत्तों को देखकर वृक्षों से पूछती पत्ते क्यों टूट गये? पेड़ का जबाब था-इस संसार की यही गति होती है। बेटी! पुराने टूट जाते हैं, फिर उसकी जगह नये आ जाते हैं। यही गति संसार में सबों की होती है। जो विज्ञानी होते हैं, वे हर चीज से शिक्षा लेते हैं।

जिज्ञासाः—यह मानव का शरीर अद्भुत है। पर इसे देव दुर्लभ क्यों कहा गया है?

समाधानः—बड़ी सूक्ष्म बात है—

'यहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥'

यह शरीर व्याधियों एवं गंदगियों का घर है, फिर भी इसे देव दुर्लभ कहा गया है। इस शरीर में नौ द्वार हैं—दो आँखों के, दो नाक के, दो कान के, एक मुँह तथा एक-एक मल और मूत्र त्याग के। सभी गंदगियों का भरपूर खजाना है।

दूसरी उपमा मन को चूहे की देते हैं। चूहा बुद्धि का प्रतीक है। एक ड्रम में दो छेद था। एक बड़ा छेद बंद था। छोटे छेद से एक चूहा ड्रम में घुस गया। ड्रम में चावल भरा था। खूब चावल खाया और मोटा हो गया। अब वह छेद से निकल ही नहीं पा रहा, वह सोचने लगा, मैं खुद ही घुसा हूँ, मुझे किसी ने घुसाया नहीं, फिर निकल क्यों नहीं पा रहा हूँ? वह सोचने लगा और भोजन करना बंद कर दिया। कुछ ही दिनों में वह पतला होकर उसी अवस्था में आ गया और आराम से निकल गया। उसी तरह जब

हम सूक्ष्म थे, कैवल्य में थे, इस शरीर-रूपी ड्रम में घुस गये और सांसारिकता को खा-खाकर मोटे हो गये। महाकारण, कारण, सूक्ष्म, स्थूल इतनी लपेट चढ़ गयी तो हम मोटे हो गये। अब जब हम इन सबों को उतार देंगे तो पतले हो जायेंगे और कैवल्य में वापिस चले जायेंगे। हमें यही करना है यानी पतला बनना है। हमें इस संसार से विरक्ति कैसे होगी, विचार करें।

जिज्ञासा—ध्यान से क्या होता है?

समाधान—ध्यान से आन्तरिक सिमटाव होता है। हरि (परमात्मा) की प्राप्ति होती है। उसे प्राप्त कर लेने पर किसी से कुछ मांगना नहीं पड़ेगा। दृढ़ बुद्धि, स्थित प्रज्ञ नीचे नहीं गिर सकता।

जब शरीर का पसार छूटेगा तभी तो संसार का पसार छूटेगा। हमारा मन पूरे शरीर में पसरा हुआ है। सिमटी हुई सुरत सफरी है, सफरी छोटी मछली को कहते हैं। **'मन उल्टे तो सुरत कहावे।'**

सफरी मछली पानी की उल्टी धार में चलती है। सफरी मछली को मालूम है कि इस धार में जब उलटेंगे तो केन्द्र पर पहुँच जायेंगे। हमारा मन जो संसार में पसरा हुआ है, उसी को उलटना पड़ेगा। पिण्ड से ब्रह्माण्ड की ओर जाना, सन्मुख धारा में जाना है। जीव ब्रह्माण्ड से पिण्ड में आया है। उलटेगा तो पिण्ड से ब्रह्माण्ड की ओर उसका रुख होगा।

'मन ऐरावत हो रहा, कैसे होय समाव।'

ऐरावत हाथी होता है, जिसके 6 सुँड़ होती हैं। अतः मन को ऐरावत की उपमा दी गई है। मन इतना बिगड़ा हुआ है, इतना फैला हुआ है, कि इसको समेटना ऐरावत को वश में करने के समान है। धार तो बह ही रही है, हमें केवल दिशा बदलने की जरूरत है। वह धार खुद ही ले जायेगी। जैसे हमें अपने घर से दूसरी जगह जाना है। घर से निकलेंगे तो अपने आप ही हमारी पीठ दरवाजा की ओर हो जाएगी। हमें करनी नहीं पड़ेगी। उसी तरह जब हम ध्यान करेंगे, अपने मन को समेटने का प्रयास करेंगे यानी जब हम परमात्मा की ओर चलने को उद्यत होगें, तो हमारी

पीठ अपने आप ही संसार की ओर हो जाएगी। इसी को कहते है उलटना। (जगत पीठ दे भाग री।) पर इसी राह में एक दशवां द्वार भी है, जिसकी पढ़ाई हमें करनी है। और वह है आज्ञाचक्र–सुषुम्ना द्वार। इसी शरीर में मोक्ष की सीढ़ी भी लगी है। वह सीढ़ी सुषुम्ना द्वार होकर जाती है। देवताओं को हमारे से हजार गुना सुख है, फिर भी साधना करके मोक्ष की सीढ़ी को पाने के लिए उन्हें इसी शरीर में आना पड़ता है। इसलिए इस शरीर को देवदुर्लभ शरीर कहा गया है।

जिज्ञासा-मन शान्त कैसे हो? समाधान-ध्यान से।

प्रेरक प्रसंगः–

एक किसान खेत में काम कर रहा था। पास के कमरे में उसने सूखी घास जमा की थी। अचानक उसने देखा कि उसके हाथ में घड़ी नहीं है। घास के गट्ठरों में कहीं गिर गई थी। ऐसे तो वह साधारण घड़ी थी, पर वह उसको पिताजी के द्वारा मिली थी, अतः उसके लिए वह काफी कीमती थी। बहुत देर तक वह घास के गट्ठरों में ढूंढ़ता रहा, पर नहीं मिली। उसके खेत से कुछ दूर पर कुछ बच्चे खेल रहे थे। उसने उन्हें बुलाया और कहा कि जो घड़ी ढूँढ़ देगा वह उसे पुरस्कार देगा। यह सुनकर सभी बच्चे सूखी घास के गट्ठरों में घड़ी ढूँढ़ने लगे। किसी को घड़ी नहीं मिली। किसान निराश हो गया। तभी एक छोटा बच्चा सामने आया और उसने कहा कि क्या वह एक बार फिर से कोशिश कर सकता है? किसान ने सहमति दे दी। किसान ने उसे खलिहान में भेजा जहाँ घास रखी थी।

कुछ देर बाद ही वह लड़का वहाँ आया, हाथ में घड़ी लेकर। किसान बहुत खुश हुआ और आश्चर्यचकित भी। उसने उस बच्चे से पूछा कि कैसे सफलता मिली, जहाँ सभी बच्चे हार गये थे? उसे कैसे ढूँढ़ निकाले? बालक ने उत्तर दिया कि मैंने कुछ भी नहीं किया, चुपचाप जमीन पर बैठ गया। अंदर कमरे में शान्ति थी। उस शांत वातावरण में मुझे घड़ी की टिक-टिक आवाज सुनाई दी। जिस ओर से आवाज आ रही थी, मैंने उधर ही

खोजा और मिल गई।

इस कहानी से हमें शिक्षा मिलती है कि जब हमारा दिमाग शान्त होता है, तभी हम सही निर्णय ले पाते हैं, सही सोच पाते हैं। अतः हमारे हर प्रश्न का जवाब योगाभ्यास (Meditation) में निहीत है। अतः हमें कुछ देर अवश्य शांत मन से ध्यान में बैठना चाहिए।

मौलाना रूम ने कहा है–खाली समय में बैठना नहीं चाहिए, वहाँ शैतान का घर बन जाता है। यदि कुछ करने को न मिले तो अपना कुर्त्ता फाड़ो और सी डालो।

जो लोग बैठे थे वे बोले, ये बात कुछ जमी नहीं तो उनहोंने कहा–यदि खाली ही समय है तो अपना कुर्त्ता फाड़कर सिलाना ही ठीक है। क्योंकि कहीं तुम दूसरे का कुर्त्ता फाड़ने न लग जाओ।

वह पथ क्या, पथिक कुशलता क्या,
जब पथ में बिखरे शूल न हो।
वह नाविक क्या जो पार न हो।
जब धारा प्रतिकूल न हो।।

ईश्वर जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है।
मानव तू परिर्वतन से काहे को डरता है।।
जबसे दुनिया बनी है, तब से रोज बदलती है।
जो राज आज यहाँ है, कल आगे को चलती है।।
देख के अदला बदली तू, क्यों आहें भरता है।
ईश्वर जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है।।

मनुष्य के पास सबसे कीमती चीज है तो क्या? उसका वक्त। भगवान ने सभी चीजें तो दोनों हाथ से जी खोलकर दी है, किन्तु वक्त देने में उन्होंने पूरी-पूरी कंजूसी की है। वक्त का बंधन है। उसमें वो एक क्षण भी बढ़ोतरी नहीं करता।

वैसे तो धन भी कीमती है, क्योंकि धन के चले जाने से भारी हानि होती है। क्योंकि इस संसार में धन ही प्रधान है। वैसे

भी यदि मनुष्य के पास धन का काफी अभाव है तो वह अपनी जरूरत पूरी नहीं कर पाने के कारण परेशान होगा। कहा भी गया है कि दरिद्रता के समान कोई दुःख नहीं है। किन्तु फिर भी उसके जाने के बाद उसे प्राप्त किया जा सकता है।

दूसरी वस्तु है, यश या कीर्ति। इसके नष्ट होने से या चले जाने से उसे भी कभी हासिल किया जा सकता है। तीसरी वस्तु है, स्वास्थ। स्वास्थ के बिना कुछ नहीं है। Health is welth. स्वास्थ्य के बिना तो सारा संसार ही बेकार है। फिर भी उसके खराब होने पर मेहनत से उसको प्राप्त किया जा सकता।

किन्तु जो वक्त चला जाता है, वो कभी वापिस नहीं आता। जैसे पहाड़ों से नदियाँ निकलकर समुद्र में जाकर मिल जाती है तो लौटती नहीं, जैसे पेड़ के पत्ते टुट जाने पर वापस डाल में नहीं लगाये जा सकते, उसी तरह जो वक्त निकल गया उसे वापस नहीं लाया जा सकता।

सेंट मार्डन एक बहुत बड़े वैज्ञानिक थे। उन्होंने एक पक्षी का चित्र बनाया जिसके चारों तरफ घने बाल, बीचे से गंजा। उसका नाम रक्खा उन्होंने समय। समय इतनी तेजी से उड़ता जाता है कि हमें पता ही नहीं चलता। जब वो आगे निकल जाता है, तो हम मूर्खो की तरह पकड़ने दौड़ते हैं, तो उसकी गंजी खोपड़ी से वह फिसल जाती है, पकड़ में नहीं आता।

जो समय को पहचानकर उसे संभाल पाए वो काफी आगे निकल गये, किन्तु जिन्होंने समय की अवहेलना की, आलस्य में लगे रहे वो पछताने के सिवा कुछ नहीं कर पाये। सोने का समय, खाने का समय, काम का समय, भजन का समय; समय को बांटकर उसका सही उपयोग करेंगे तो हम भी कुछ कर निकलेंगे। यदि हम अपने आप की सही ईन्क्वायरी करें तो पता चलेगा कि जीवन का अधिकांश समय, खाने, सोने, वाद-विवाद में, तैयारी करने में निकल जाता है। कितने कम समय का हम सदुपयोग कर पाये हैं।

अपने अंदर के असंयम की भावना को तोड़ो। संयमरूपी

ब्रेक का प्रयोग करो। क्योंकि बिना ब्रेक की गाड़ी तो मौत की सवारी है। गाड़ी कितनी भी सुंदर है, ब्रेक नहीं, तो तुरन्त दुर्घटनाग्रस्त हो जाएगी। कबीर साहब ने कहा है–

कहता हूँ कहि जात हूँ, कहूँ बजाए ढोल।
श्वासा खाली जात है, तीन लोक का मोल॥

गुरु नानकजी ने कहा–

जागन हो तो जाग लो, अब जागन की बार।
फिर क्या जागे नानका, जब सोवे पाँव पसार॥

अरस्तु ने कहा–

(१) हर व्यक्ति को अपना दायरा बढ़ाना चाहिये। असंयम को दूर करो। अपना दायरा बढ़ाओ, सीमित न रक्खो।

(२) आज की उपलब्धियों पर संतोष करो। लेकिन भावी प्रगति का पुरुषार्थ नहीं छोड़ो।

(३) अपनी सारी शक्ति दूसरों के दोष ढूँढ़ने में मत लगाओ। बल्कि हमेशा अपनी उत्थान की कोशिश करो। क्योंकि तू जो दूसरों की तरफ एक अँगुली उठाता है, तो तुम्हारे तरफ अपने-आप तीन अँगुलियाँ उठ जाती हैं।

(४) ये जो तुम्हारी जीभ-रूपी गाय दूसरों की मान-रूपी हरी-भरी खेती उखाड़ने में सदा तत्पर रहती है, उसे खूँटे से बांध कर रखना।

(५) कष्टों से घबराना नहीं, बल्कि पूरी शक्ति से उसे हटाने की कोशिश करना।

(६) हर किसी में जो अच्छाई है, उसे ढूँढ़ो और उससे अपना ज्ञान बढ़ाओ तो तुम बहुत जल्दी ही बहुत ऊँचाई पर पहुँच जाओगे।

आत्मचिन्तन करना चाहिये कि मैं एक जीवात्मा इस संसार में सुलझने के लिए आया हूँ या उलझने के लिए। जो समय परमात्मा ने मुझे दिया है, उसका मैं सदुपयोग कर रहा हूँ या दुरुपयोग। सोचना है कि जिन्दगी का रास्ता तय करने का क्या तरीका है। न्यूटन ने कहा है–एक छोटी सी बात है, हमें ध्यान

रखना चाहिए। हम संसार में रहते हैं, हम चाहते हैं कि सारे रिश्ते-नाते हमारे हिसाब से चले। हम उन्हें अपने हिसाब से चलाने का भरसक प्रयत्न करते हैं और दुःखी होते हैं। किन्तु हमारी बुद्धिमत्ता उसी में है कि हम उनके हिसाब से चलते हुए उनके द्वारा खुश रह सके और अपना कार्य भी पूरा करते रहें और उन्हें भी खुश रख सके। तब हम प्रसन्न रह सकते हैं।

प्रेम क्या है? जिस वस्तु के अभाव में मानव समाज खां-खां कर रहा है। उसी का नाम प्रेम है। ईंट पर ईंट सजाने से ईंट का स्तूप होता है, निवासयोग्य घर नहीं बनता। ईंट-ईंट में जो व्यवधान रहता है, उसे मिटाकर ईंटों को आपस में सिमेंट से जोड़नी पड़ती है। उसी प्रकार कुछ मनुष्यों के होने से एक समाज या राष्ट्र नहीं बन जाता, एक जाति नहीं बन जाती। मनुष्य के बीच जो सैकड़ों प्रकार के व्यवधान है, उन्हें दूर कर एक प्राणता संपादन करके ही एक संगठित जाति बनती है।

ईंटों को आपस में जोड़ सकता है, सिमेंट का मशाला। मनुष्यों को एक प्राण करता है, शुद्ध प्यार। इसी का दूसरा नाम है प्रेम। समाज में सर्वाधिक मर्मान्तक अभाव इस प्रेम का ही था। यही स्थिर निश्चय करके महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी पाद को कहा था–'सनातन प्रेम प्रयोजन।' जिस वस्तु के अभाव से मानव समाज कष्ट और दुःखों से पीड़ित है, खां-खां कर रहा है उसी का नाम है–प्रेम-धन।

(श्रीमदभागवत महापुराण एक परिचयात्मक समीक्षा)

आध्यात्मिक उन्नति पर आधारित प्रेम सर्वश्रेष्ठ प्रेम है। जिस मात्रा में भगवान के प्रति हम अपने प्रेम को बढ़ायेंगे हमारे साथियों के प्रति हमारा प्रेम उतनी ही मात्रा में बढ़ेगा। तब हमें अनुभव होगा कि हम प्रभु के यंत्र तथा उनके प्रेम के वाहक हैं। इस आध्यात्मिक आदर्श को जीवन में अधिकाधिक उतारने का प्रयत्न करो। सत्य की अनुभूति जितनी तीव्र होगी, हमारा प्रेम उतना ही तीव्र होगा, उतना ही निर्मल होगा।

सांसारिक सदाचार केवल भलमनसाहत सदाचार मात्र है।

यह गहरा नहीं होता। हृदय परिवर्तन के बिना, दृष्टिकोण परिवर्तन के बिना, वास्तविक सद्भाव स्थापित नहीं किया जा सकता। उदार होना सीखो। दूसरों को सन्दिग्धत्व का लाभ न दो। तब ऐसी एक अवस्था आयेगी जब तुम जितना पाओगे उससे अधिक देना चाहोगे। उच्चतम अवस्था में व्यक्ति अपने बारे में सोचता नहीं। (स्वामी यतीश्वरानन्द, ईश्वर की खोज नामक पुस्तक से संकलित)

मानव कल्याण का मार्ग

एक बार मेरा एक यहूदी धर्मगुरु से लम्बी वार्तालाप हुई। उन्होंने कहा–'स्वामीजी, आईये हम मानव कल्याण के लिए एक अंतराष्ट्रीय संस्था की स्थापना करें।' मैंने उत्तर दिया–'यह प्रस्ताव मुझे नहीं जँचता।' वे अचंभित हो गये। बोले–'क्यों? क्या आप जगत का कल्याण नहीं करना चाहते?' मैंने कहा–'समस्या का समाधान एक कठिन मार्ग से होकर है।'

हमें व्यक्ति से प्रारम्भ करना चाहिये। एक अच्छा व्यक्ति स्वयं का ही नहीं, बल्कि अपने परिवार का भी कल्याण करने का प्रयत्न करता है और इसी तरह समाज एवं राष्ट्र का। मानव कल्याण का यह मार्ग है। साधारण जन समाज के सदस्यों के बीच केवल समाजिक सद्भाव का सम्बन्ध रहता है।

स्वामी यतीश्वरानन्दः–श्रीरामकृष्ण का दिव्य व्यक्तित्व, उनका विशाल एवं उदार हृदय एवं उनके अतुलनीय प्रेम ने शिष्यों को आकृष्ट किया तथा उन्हें एकत्र रक्खा। सभी संगठनों में एक व्यक्ति, एक आदर्श होना चाहिये, जो उसके विभिन्न अंगों को नियंत्रित एवं उनमें परस्पर सामंजस्य बनाकर रख सके। मैंने उपनिषद् की एक कथा कही थी, जिसमें विभिन्न इन्द्रियाँ अपने-आपको बहुत बड़ा समझती थी। उनके एक बार में एक-एक करके देह से प्रस्थान करने पर मनुष्य को अधिक कुछ नहीं हुआ। केवल वह कुछ समय के लिए अंधा या बहरा हो गया। लेकिन प्राण के देह से प्रस्थान करते ही सभी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो गईं। अतः प्रत्येक को अपने तथा दूसरों की हित की चिन्ता करनी चाहिये। (स्वामी यतीश्वरानन्द ईश्वर की खोज)

समाज से बचकर वन में जाना पलायन है और उससे कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि अंतरद्वन्दों और चांचल्य से युक्त यह मन ही तो वहाँ जाता है। इस संसार में कोई भी कठिनाइयों से छुटकारा नहीं पा सकता। हम दूसरों को सुधार नहीं सकते, किन्तु उनके प्रति अपने दृष्टिकोण तो बदल सकते हैं। संसार का सामना करते हुए आदर्श के लिए संघर्ष करो। शांति की खोज में हम संसार त्यागकर वन नहीं जा सकते। आध्यात्मिक जीवन दुर्बलों के लिए नहीं है।

एक आदमी ने कुआँ खोदना शुरू किया। बीस हाथ खोदने पर जब उसे जल का सोता नहीं मिला तब उसने उसे छोड़ दिया और दूसरी जगह कुआँ खोदना शुरू किया। किन्तु वहाँ भी पानी नहीं मिला। तीसरी जगह कुआँ खोदा, वहाँ भी पानी नहीं मिला। तीनों मिलाकर लगभग एक सौ हाथ से कुछ कम रही होगी। यदि पहले ही कुएँ को वह 100 हाथ ही वह धरती खोदता तो उसे अवश्य पानी मिल जाता। यही हाल उनलोगों का है जो बराबर अपनी श्रद्धा बदलते रहते हैं। सफलता प्राप्त करने के लिए सब ओर से चित्त हटाकर केवल एक ही ओर अपनी श्रद्धा लगानी चाहिये और उसकी सफलता पर विश्वास करना चाहिये।

श्रीमहर्षि योगिराज देवराहा बाबा ने कहा–प्रेम ही मुख्य वस्तु है, साधन की विधियों का महत्व नहीं है। भगवान का सदैव स्मरण करते रहो, उनका नाम लेते रहो, यही साधना का सार है। अन्त में प्रतीत होगा कि प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद भिन्न नहीं है।

हमें घृणा से दूर रहना चाहिये! हम जीवात्मा ईश्वर का अंश हैं, अर्थात् हर जीवात्मा में ईश्वर का निवास है। हम किसी से घृणा करते हैं तो ईश्वर से ही घृणा करना हुआ न।

मनुष्य में दोष देखकर उससे घृणा या दोष नहीं करना चाहिये। घृणा या दोष करना हो तो मनुष्य के अंदर रहनेवाले दोषरूपी विकारों से घृणा करना चाहिये।

जैसे किसी मनुष्य को छुत की बीमारी हो जाने पर उसके घरवाले बीमारी के भय से उसके पास जाना नहीं चाहते। किन्तु

उसको बीमारी से बचाना अवश्य चाहते हैं। इसके लिए अपने को बचाते हुए यथासाध्य चेष्टा भी पूरी तरह से करते हैं। क्योंकि वह उनका प्यारा है। इसी प्रकार जिस मनुष्य में झूठ, चोरी, नशा आदि दोष-रूपी रोग होते है, उन्हें अपना प्यारा समझकर उसके साथ घृणा या द्वेष न कर उसको रोग से बचाते हुए उसे रोगमुक्त करने की चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान बड़े ही सुहृदय और दयालु हैं। वह बिना ही कारण हित करनेवाले और अपने प्रेमी को प्राणों के समान प्रिय समझनेवाले हैं। जो मनुष्य इस तत्व को जान पाया है, उसको भगवान के दर्शन के बिना एक पल भी कल नहीं पड़ती। भगवान भी अपने भक्त के लिए सब कुछ छोड़ देते हैं, पर उस प्रेमी भक्त को एक क्षण भी नहीं त्याग सकते हैं।

उपसंहार–विज्ञान के ज्ञान से हम सांसारिक उन्नति करते हैं। इससे हमें धन, यश, लोकेषणा की प्राप्ति होती है, किन्तु महा विज्ञान के द्वारा हम जन्म-मरण के रहस्यों को समझकर अर्थात आत्मज्ञान प्राप्तकर हम केवल सांसारिक धन, प्रतिष्ठा ही नहीं, अपितु धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। महाविज्ञान के अन्तर्गत भौतिक जगत से लेकर अध्यात्म जगत के सारे संसाधन अर्थात प्रेयों तथा श्रेयों को भी प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। हमारे देश में विज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँचनेवाले अनेक वैज्ञानिक जैसे-मार्कोनी, जेम्सवाट, गैलीलियो, एडिसन, रमण, सर आइजक न्यूटन, जगदीश चन्द्र वसु आदि हुए। इन्होंने ज्ञान-विज्ञान को जानकर वैज्ञानिक पद को प्राप्त किया। किन्तु हमारे ऋषि-मुनियों और संतों ने विज्ञान के साथ-साथ उस परमतत्व परमात्मा को जाना अर्थात उस महाविज्ञान को जाना और सर्वज्ञ हो गए। संत अनंत पद को प्राप्त कर लेते हैं, जिसके बाद कुछ और प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। यहाँ पर मानव पूर्णता को प्राप्त कर मोक्ष लाभ कर उस पद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से जीव पुनः इस दुखरूपी असार संसार में नहीं आता। यही ऋषि-मुनियों, संतों, अवधूतों का ज्ञान है, यही महाविज्ञान

है।

अपने को जानना

सबसे बड़ा विज्ञान है, अपने को जानना। महाभारत के एक प्रसंग में धर्मराज युधिष्ठिर ने यक्ष से कहा था–यह बड़े आश्चर्य की बात है, हम सभी देखते हैं संसार में नित्य लोग मर-मरकर यम के घर को भर रहे हैं, फिर भी हमें यह विश्वास नहीं होता की हमें भी मरना है। परमपूज्य गुरुदेव संतसेवी परमहंसजी ने इस पर कहने की कृपा की–

'किन्तु इससे भी ज्यादा यह आश्चर्य की बात है कि हम अपने परिवार के हर सदस्य को जानते हैं, वे भी हमें खूब जानते हैं। हम अपने पड़ोसियों, अपने रिश्तेदारों पूरी दुनिया को जानने का दावा करते हैं, हम अपने कारखाना, अपने घर, धन सभी चीजों को जानते हैं, पर यह ही नहीं जानते कि हम कौन हैं?'

बताइये है न घोर आश्चर्य की बात? हम कौन हैं? अवश्य खोज करनी चाहिये। यही है महाविज्ञान।

हर जीवात्मा ईश्वर का अंश है। सबके अंदर उस ईश्वर की शक्ति समायी हुई है। उसे ही हमें प्राप्त करना है। जैसे एक इमली के छोटे से बीज से इमली का विशाल वृक्ष बन जाता है। आम के बीज में वह शक्ति है कि वह आम का विशाल वृक्ष बना सकता है। चने के बीज से चना ही पैदा होता है। गेहूँ के बीज से गेहूँ ही पैदा होता है। उसी प्रकार हम जीवात्मा ईश्वर के अंश हैं, तो हमारे अंदर उसके अनुरूप सारे गुण विद्यमान हैं। जरूरत है सींचने और खाद डालने की।

इस पुस्तक को लिखने का यही रहस्य है कि हमें इस महाविज्ञान को जानना है, करना है और पाना है। इसके लिए यह जानना जरूरी है कि यह सफलतापूर्वक कैसे होगा।

वर्तमान का सदुपयोग:–एक दिन दो बटोही (मुसाफिर) यात्रा करते हुए आपस में मिले। पहला था, बीता हुआ 'कल' और दूसरा था आनेवाला 'कल'। दोनों में बातचीत होने के बाद कहा-सुनी होने लगी। दोनों अपने को श्रेष्ठ बता रहे थे। पहले ने

कहा–'तुम मेरे साथ मुकाबला नहीं कर सकते; क्योंकि मेरे ही माध्यम से ही शिक्षा लेकर लोग विवेकी, बलवान, धनवान, यशस्वी श्रेष्ठ तथा महान बनते हैं।' दूसरे ने कहा–'तुम्हारी ये बातें निरर्थक हैं। मेरे सामने तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं है। लोग मेरे ही माध्यम से अपने भविष्य के कार्य कर महान बनते हैं, सुखी जीवन व्यतीत करते हैं तथा समाज में प्रतिष्ठा पाते हैं।' पहले बटोही ने कहा कि मेरी तिजोरी में जो बंद है उसका मूल्य तुम क्या समझोगे? मेरे माध्यम से सीखकर ही तो आदमी जीता है, नहीं तो उसको मार्गदर्शन कहाँ से मिलता? उसकी अंधे जैसी गति हो जाती। मेरे कारण आदमी को अपने मार्ग में चलने के लिए सूर्य की तरह प्रकाश मिलता है, वरना आदमी अंधेरे में रहेगा।

दूसरे बटोही ने कहा–'आदमी को मुर्दे रास्ता नहीं दिखाते। जो स्वयं अंधकार में है, जिनमें जान ही नहीं वह क्या किसी को राह दिखा सकता है, अंधेरा मिटा सकता है? यह असंभव है। इसलिए तुम अपनी बढ़ाई ज्यादा मत करो, मैं सब जानता हूँ। तुम्हारे भरोसे जीनेवाला तो कभी प्रकाश का दर्शन कर ही नहीं सकता। उसके जीवन का अंधेरा कहाँ से मिटेगा? आदमी की आँखें हमेशा आगे देखती है, पीछे नहीं। यदि व्यक्ति के पास भविष्य की सोच न हो, आश न हो, भविष्य के अंदर सपने न हो तो मानव का जीवन नीरस हो जायेगा और बलवान, यशस्वी और महान बनना तो दूर रहा, वह संसार से व्याकुल होकर एक दिन अपने प्राणों का अंत कर लेगा।

दोनों के अपने-अपने तर्क थे। वे एक दूसरे से हार मानने को तैयार नहीं थे। तभी एक तीसरा बटोही वहाँ आ पहुँचा। उसने दोनों के वाद-विवाद का कारण पूछा। दोनों ने अपनी-अपनी बात उसके समाने व्यक्त कर दी। तीसरे बटोही ने उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुना और फिर उत्तर दिया कि तुम दोनों का लड़ना व्यर्थ है। जो बीत गया, वह आनेवाला नहीं है। उसकी याद में समय खोना व्यर्थ है। केवल अपने अमूल्य समय को बर्बाद करना है। दूसरा बीच में ही बोल पड़ा–तुम ठीक कहते हो, मैं भी यही

मानता हूँ।

पुनः तीसरे ने कहा–'ठहरो, तुम्हारा तो कोई अस्तित्त्व ही नहीं है। जो भविष्य के विचारों में डूबा रहता है, वह कहीं नहीं पहुँच सकता। उस बेचारे का भी मुख लटक गया। अब तीसरे ने कहा–दरअसल महत्त्व तो मेरा है। दोनों ने एक स्वर में कहा–तुम कौन हो? उसने उत्तर दिया–मेरा नाम 'वर्तमान' है, सामने का क्षण। जो वर्तमान के क्षण को तुम दोनों के चक्कर में खोता है, वह कहीं का नहीं रहता। इसलिए मेरा सिद्धान्त है कि वर्तमान के क्षण में जीओ। जो इस सिद्धान्त पर अमलकर अपने कार्य शीघ्र कर लेते हैं, उन्हीं का जीवन सार्थक होता है।' यही जीवन की सार्थकता का मूल रहस्य है। सरल बात, हमलोगों को हमेशा वर्तमान में रहना चाहिये। हमलोग या तो भूत में रहते हैं या भविष्य में चले जाते हैं। इससे हम अपना काफी नुकसान कर लेते हैं।

अतः हर वक्त हमें जाँच करनी पड़ेगी कि हम कहाँ है? हमें साक्षीभाव यानी द्रष्टा बनकर जीना है। हम अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानकर जीवनभर दुःखी रहते हैं। यदि हम साक्षीभाव प्रगट कर लें तो संसार के सारे दुःखों से मुक्त हो जायेंगे।

प्रेरक प्रसंगः–

एक बार अपने दोस्तों के साथ स्वामी विवेकानन्द विदेश गये हुए थे। जब वे बाजार घुमने गए तो कुछ लोग विवेकानन्द को गालियाँ दे रहे थे। वे सुनकर आये और अपने दोस्तों से कहा–आज बाजार में बड़ा मजा आया। लोग विवेकानन्द को गालियाँ दे रहे थे। दोस्तों ने कहा–'अजीब पागल है यार, विवेकानन्द ही बोल रहा है कि विवेकानन्द को लोग गालियाँ दे रहे थे। और लोग कैसे समझ पायेंगे।' वे तो साक्षी भाव में रहते थे, इसलिए ऐसा बोल रहे थे। उनका कहना था कि मैं आत्मा हूँ विवेकानन्द नाम तो मेरे शरीर का है। इस तरह के भगवान को पाये हुए महापुरुषों का स्वभाव है, दूसरों का कल्याण करना। भीतर की शांति पाने

का सरल उपाय है–न दुःख से भागो, न सुख से चिपको। सुख-दुःख आते-जाते रहते हैं। सुख जाता है तो दुःख दे जाता है और दुःख जाता है तो सुख दे जाता है।

एक बार एक भाई किसी महाराज के पास गया और बोला–महाराज इस जिन्दगी में मैंनें दुःख ही दुःख देखे हैं। महाराज ने पूछा–कितने दुःख देखे हैं? उसने कहा–कितने गिनाऊँ, बहुत दुःख देखे हैं। महाराज ने कहा–तू ने सुख देखा ही न हो तो कैसे समझा कि बहुत दुःख है? थोड़ा सुख भी मिला होगा तभी तो बहुत का अंदाजा हुआ। ये तो आने-जानेवाले मेहमान हुए। तू तो वहीं का वहीं रहा, उसे देखनेवाला साक्षी।

जैसे हाइवे पर यदि तुम्हारा बंगला हो तो रोड पर से बस, टैक्सी, ऑटो, रिक्सा सब गुजरते हैं। कभी बारात भी गुजरती है, कभी अर्थी भी । उन सबको बंगले में बैठकर यदि देखते रहें तब तो ठीक हैं, लेकिन जो आये उसके साथ चलने लग जायेंगे तो बंगले में शांतिपूर्वक कैसे रह सकते हैं।

ऐसे ही अपने मनरूपी हाईवे में सुख-दुःख की वृत्तियाँ मान-अपमान का प्रसंग सभी आते जाते रहते हैं। जब हम आत्मरूपी घर छोड़कर उसके साथ दौड़ने लगते हैं तो परेशान हो जाते हैं। और यदि आत्मरूपी बंगले में बैठकर सुख-दुःख मान-अपमान देखते रहें तो आनन्द ही आनन्द है।

परमात्मा के इतने निकट होते हुए भी मानव दुःखी और चिंतित क्यों रहता है? क्योंकि आने-जानेवाली परिस्थितियों को सत्य मानकर उसके साथ एक हो जाता है।

चौरासी अंगुल मनुष्य शरीर

मनुष्य शरीर की विशेषता क्या है? चौरासी लाख योनियों से कैसे छूटा जाएगा?

परम पूज्य गुरुदेव महर्षि संतसेवी परमहंसजी महाराज ने कहने कही कृपा की थी–'मेरे कथन पर मानव मनन करने का कष्ट करें। जिस समय बच्चा जन्म लेता है, अपने हाथ से वह साढ़े तीन हाथ का होता है और जब वह बूढ़ा होता है तब भी वह

साढ़े तीन हाथ का ही रहता है। मृत्यु के गोद में जाने पर भी वह साढ़े तीन हाथ का ही रहता है। उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती। इस साढ़े तीन हाथ की विशेषता क्या है?

चौरासी लाख प्रकार की योनियों में मात्र मनुष्य शरीर ही ऐसा होता है, जो 84 अंगुल का होता है। जितने मनुष्य हैं सब अपने-अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ के होते हैं। साढ़े तीन हाथ का मतलब है, सात बित्ते। एक बीत्ते में 12 अगुलियाँ तो सात बित्ते में 12x7 =84 अंगुलियाँ। इस प्रकार समस्त मानव जाति अपनी-अपनी माप से चौरासी अंगुल के होते हैं। परमात्मा की ओर से 84 अंगुल का शरीर इसलिए मिला है कि मानव चौरासी लाख योनियों से छुट जाय। यही मनुष्य शरीर की विशेषता है। इसी के लिए परमात्मा ने मनुष्य शरीर दिया है।

'लख चौरासी भरमि के, पौ पे अटके आय।
अबकी पाशा ना पड़े, फिर चौरासी जाय॥'

चौसर एक खेल होता है, जिसमें चौरासी कोठे होते हैं। चार गोटियाँ होती हैं और छः कौड़ियाँ होती है। कौड़ियाँ भांजकर गिराते हैं। जितनी कौड़ियाँ चित्त होती हैं, उसी क्रम से वे गोटियाँ चलती है। चलते-चलते जब चौरासिवें कोठे पर गोटी आ जाती है, अब फिर कौड़ियाँ भाँजने पर जब एक गोटी चित्त होती है तो गोटी लाल हो जाती है। उसी तरह चौरासिवें कोठे पर आया हुआ जीव अगर परम प्रभु परमात्मा में एक चित्त लगा दे, तो गोटी लाल है, पौ बारह है। यदि कौड़ियाँ कहीं 2, 3 या 4 चित्त हो गईं तो उस पौ पर आयी हुई गोटी को फिर चौरासी कोठों में घुमना पड़ेगा। एक चित्त करने के लिए एक इष्ट पर अपने को लगाओ। बहुदेवों की उपासना में चित्त की एकाग्रता नहीं होगी।

वृक्ष लगाना है तो उसकी जड़ में पानी दीजिए। जड़ में पानी दीजिएगा तो सारा वृक्ष हरा-भरा हो जाएगा। वह पल्लवित होगा, पुष्पित और फलित होगा। पत्ते-पत्ते पर पानी दीजिएगा तो वृक्ष सूख जाएगा। इसलिए एक इष्ट को पकड़िये।

कबीर काया समुद्र है, अन्त न पावै कोय।

मृतक होय के जो रहै, मानिक लावै सोय॥

इस शरीर में जो डूबता है, वही पाता है। अपने अंदर डुबो। डुबने की कला जानो, फिर डुबो। जो डुबता है तो क्या होता है? 'मरजीवा होई रहै, लाल को तुरत निकारै।'

लाल लाल जो सब कोई कहै, सबकी गाँठी लाल।
गाँठ खोल के परखै नाहीं, तासो भयो कंगाल॥

जब तक परमात्मा-रूपी लाल नहीं मिलेगा, तब तक कितना भी माल जमा कर लो कंगाल ही बने रहोगे। जो परमात्मारूपी लाल को पाता है, वह मालोमाल हो जाता है। उसपर तो काल की दाल भी नहीं गलती।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम अध्याय

महाभारत युद्ध के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जिस गीता का उपदेश किया है, उसका आगे लोगों में प्रचार कैसे हुआ? इसकी परम्परा वर्तमान महाभारत ग्रन्थ में ही इस प्रकार दी गई है।

हस्तिनापुर के चहुँ ओर का मैदान कुरुक्षेत्र है। वर्तमान दिल्ली शहर इसी मैदान पर बसा हुआ है। महाभारत में यह कथा है—महाभारत के पूर्वज कुरु राजा इस मैदान को हल से बड़े कष्टपूर्वक जोता करते थे। अतएव इसको क्षेत्र (खेत) कहते हैं। जब इन्द्र ने कुरु को यह वरदान दिया कि इस क्षेत्र में जो लोग तप करते या युद्ध करते मारे जायेंगे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी तब उसने यहाँ पर हल चलाना छोड़ दिया। महाभारत के युद्ध के समय जब दोनों दलों के लोग वहाँ युद्ध के लिए शोभयमान हो रहे थे तब कुन्तीपुत्र अर्जुन परम करुणा से व्याप्त होता हुआ खिन्न होकर यह कहने लगा—हे कृष्ण! युद्ध करने की इच्छा से जमा हुए स्वजनों को देखकर मेरे गात शिथिल हो रहे हैं। मुँह सुख रहा है, गांडीव धनुष हाथ से गिर पड़ता है। स्वजनों को मारकर कल्याण होगा ऐसा नहीं दिख पड़ता है। हे कृष्ण! मुझे विजय की इच्छा नहीं, न राज्य चाहिये और न सुख। हे माधव! स्वजनों को

मारकर हम सुखी क्योंकर होंगे?

घर जलाने के लिए आया हुआ, विष देनेवाला, हाथों में हथियार लेकर मारने के लिए आया हुआ, धन लूटकर ले जानेवाला और स्त्री एवं खेत को हरनेवाला ये छः आततायी हैं। मनु ने भी कहा है कि इन दुष्टों को बेधड़क मार डालें, इसमें कोई पाप नहीं।

भारतीय युद्ध में एक ही राष्ट्र और धर्म के लोगों में फूट हो गई थी और वे मरने-मारने पर उतारू हो गये थे। इसी कारण उक्त शंकायें उत्पन्न हुई कि कुल का क्षय होने से सनातन कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्जुन उसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए शोक से व्यथित होकर धनुष वाण त्यागकर रथ में अपने स्थान में यूँ ही बैठ गया।

कौरव-पाण्डव युद्ध के समय जब अर्जुन उद्विग्न हो गया था तब स्वयं भगवान ने उसे यह उपदेश दिया था। इसमें यह स्पष्ट है कि हरिगीता से भगवद्गीता का ही मतलब है। यह नारायणीय धर्म प्रवृत्ति मार्ग होकर भी पुनर्जन्म को टालनेवाला अर्थात पूर्ण मोक्ष का दाता है। प्रवृत्ति का यह अर्थ है कि संन्यास न लेकर मरणपर्यन्त निष्काम कर्म करता रहे। यद्यपि चित्त शुद्धि द्वारा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता पाने के लिए गृस्थाश्रम के कार्य अत्यन्त आवश्यक है, तथापि इन कर्मों को सदैव नहीं करना चाहिये। क्योंकि उन सब कर्मों का त्याग करके अंत में संन्यास के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। इसका मतलब है कि कर्म और ज्ञान अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर विरोधी है। इसलिए सब वासनाओं और कर्मों के छुटे बिना ब्रह्मज्ञान की पूर्णता ही नहीं हो सकती। इसी दूसरे सिद्धान्त को निवृत्तिमार्ग कहते हैं।

विचार करते-करते जब अर्जुन का चित्त डांवाडोल हो गया और वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर भगवान श्रीकृष्ण की शरण में गया तब भगवान ने उसे गीता का उपदेश देकर उसके चंचल चित्त को स्थिर और शांत कर दिया। इसका फल यह हुआ कि अर्जुन गीता का उपदेश सुनकर अपना यथोचित कर्त्तव्य समझ गया और अपनी इच्छा से युद्ध के लिए तत्पर हो गया।

यदि हमें गीता के उपदेश का रहस्य जानना है, तो इस उपक्रमोपसंहार और परिणाम को अवश्य ध्यान में रखना पड़ेगा। मोक्ष कैसे मिलता है? अन्त में अर्जुन को यही निश्चितार्थक कर्म विषयक उपदेश दिया है कि–'हे अर्जुन! तू युद्ध कर, तू मोह छोड़कर अपना कर्त्तव्य कर। मेरा स्मरण कर और लड़। करने करानेवाले सब कुछ मैं ही हूँ, तू तो केवल निमित्त है। इसलिए युद्ध करके शत्रुओं को जीत। अन्त में भगवान ने अर्जुन से प्रश्न किया है कि हे अर्जुन! तेरा अज्ञान मोह अभी तक नष्ट हुआ कि नहीं? इसपर अर्जुन ने संतोषजनक उत्तर दिया–हे अच्युत! स्वकर्त्तव्य संबंधी मेरा अज्ञान और मोह नष्ट हो गया, अब मैं आपके कथनानुसार काम करूँगा।'

डायरो ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि–'यह प्रतिपादन कष्टसाध्य है। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य यही है कि, उक्त रीति से गीता की परीक्षा करके उसके विषयों का मेल अच्छी तरह प्रकट कर दिया जाय। अब यह जानने के लिए कर्म अकर्म के झगड़े कैसे विकट होते हैं और अनेक बार उसे करूँ या नहीं, उसे यह न सूझ पड़ने के कारण मनुष्य कैसा घबड़ा जाता है, ऐसे ही अनेक प्रसंगों के अनेक उदाहरणों का विचार किया जाएगा जो हमारे रास्तों में विशेषतः महाभारत में पाये जाते हैं।

दूसरा प्रकरण (कर्म जिज्ञासा)

भगवद्गीता के आरम्भ में परस्पर विरूद्ध दो धर्मों की उलझन में फँस जाने के कारण अर्जुन जिस तरह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया था और उसपर जो आपत्ति आ पड़ी थी, वह कुछ अपूर्व नहीं है। उन असमर्थ और अपना ही पेट पालनेवाले की बात भिन्न है, जो संन्यास लेकर और संसार को छोड़कर वन में चले जाते हैं अथवा जो कमजोरी के कारण जगत के अनेक अन्यायों को चुपचाप सह लिया करते हैं। परन्तु समाज में रहकर ही जिन

महापुरुषों को अपने सांसारिक कर्त्तव्यों का पालन धर्म तथा नीतिपूर्वक करना पड़ता है, उनपर ऐसी ही आपत्तियाँ अनेक बार आ पड़ी थी, परन्तु अर्जुन के सिवा और लोगों पर भी ऐसे कठिन प्रसंग अक्सर आया करते हैं। इस बात का मार्मिक विवेचन महाभारत में कई स्थानों में किया गया है। उदाहरणार्थ मनु ने सब वर्णों के लोगों के लिए नीति धर्म के पाँच नियम बतलाये हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, वाचा और मन की शुद्धता एवं इन्द्रिय-निग्रह। इनमें एक अहिंसा पर विचार करें तो सभी धर्मों में मनु की आज्ञा के समान अहिंसा को पहला स्थान दिया गया है। किसी सचेतन प्राणी को किसी प्रकार दुःखी न करना ही अहिंसा है।

किन्तु अब कल्पना करें कि कोई हमारी जान लेने या हमारी पत्नी अथवा हमारी कन्या को कष्ट देने के लिए अथवा हमारे घर में आग लगाने या धन छीनने को कोई दुष्ट मनुष्य हाथ में शस्त्र लेकर तैयार हो जाय तो उस समय यह विचार न करें कि वह गुरु है, बूढ़ा है, बालक है या विद्वान ब्राह्मण है। ऐसे समय में हत्या करने का पाप हत्या करनेवाले को नहीं लगता, किन्तु आततायी मनुष्य अपने ही अधर्म से मारा जाता है। अहिंसा में भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का सूक्ष्म विचार करना ही पड़ता है। इसी कारण प्रह्लाद ने अपने नाती, राजा बली से कहा–सदैव क्षमा करना अथवा क्रोध करना श्रेयस्कर नहीं होता। इसलिए हे तात! पंडितों ने क्षमा के लिए कुछ अपवाद भी कहे हैं।

कल्पना कीजिए कि कुछ आदमी चोरों से पीछा किए जाने पर तुम्हारे सामने किसी स्थान पर छिप गए और चोर हाथ में तलवार लिये हुए तुम्हारे पास आकर पूछने लगे कि वे आदमी कहाँ चले गये? ऐसी अवस्था में तुम क्या कहोगे? क्या सच बोलकर सब हाल कह दोगे या उन निरापराधी जीवों की हिंसा को रोकोगे? क्योंकि निरापराधी जीवों की रक्षा, सत्य ही के समान महत्व का धर्म है।

कर्णपर्व में और अर्जुन पर्व के सत्यान्तृत अध्याय में भीष्म पितामह युधिष्ठिर से कहते हैं–यह बात विचारपूर्वक निश्चित की

गई है कि यदि बिना बोले मोक्ष या छुटकारा हो सके, तो बोलना नहीं चाहिये और यदि बोलना आवश्यक हो और न बोलने से दूसरों को कुछ संदेह होना संभव है तो उस समय सत्य के बदले असत्य बोलना ही प्रशस्त है। इसका यह कारण है कि सत्य धर्म केवल शब्दोच्चारण के लिए ही नहीं है। अतएव जिस आचरण से सब लोग का कल्याण हो वह आचरण सिर्फ इसी कारण निंद्य नहीं माना जा सकता कि शब्दोच्चारण अयथार्थ है। जिससे सभी की हानि हो वह न तो सत्य ही है और न अहिंसा ही।

शांन्तिपर्व में सनत्कुमार के आधार पर नारदजी शुकजी से कहते हैं–सच बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है जिससे सब प्राणियों का हित हो। और अकर्म के संदेह का निर्णय जिस तत्त्व के आधार पर यह ग्रन्थकार किया करता है, उसको सबसे अधिक लोगों का सबसे अधिक सुख कहते हैं। उसी नियम के अनुसार यह निर्णय किया गया है–छोटे बच्चों को, पागल को, बीमार को यदि सच बात सुना देने से उसके स्वास्थ्य बिगड़ जाने का भय होता है अपने शत्रुओं को, चोरों को, अन्याय से प्रश्न करे, उसको उत्तर देने के समय अथवा सच्चे वकीलों को अपने व्यवसाय में झूठ बोलना अनुचित नहीं है।

लेस्ली स्टीफन नामक एक और अंग्रेज ग्रन्थकार ऐसे ही उदाहरण देकर अन्त में लिखते हैं कि किसी कार्य के परिणाम की ओर ध्यान देने के बाद ही उसकी नीतिमत्ता निश्चित की जानी चाहिये। हमारे साहित्यकारों का अंतिम तात्विक सिद्धान्त वही है, जो महादेव ने पार्वती से कहा–

आत्महेतोः पदार्थे वा नर्महास्य श्रुयात्तया।
ये भूषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिन॥

जो लोग इस जगत में स्वार्थ के लिए, पदार्थ के लिए, या मजाक में भी कभी झूठ नहीं बोलते, उन्हीं को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। हरिश्चन्द्र ने तो अपने स्वप्न में दिये हुए वचन को सत्य करने के लिए डोम की नीच सेवा भी की थी।

तीसरा प्रकरण (कर्मयोग शास्त्र)

कर्मशास्त्रोपदेश उसी मनुष्य को देना चाहिए जिसे यह जानने की इच्छा हो कि संसार में कर्म करना चाहिये। अर्जुन पर आया हुआ संकट कुछ लोक विलक्षण नहीं था, ऐसे अनेक छोटे बड़े संकट संसार में सभी लोगों पर आया करते हैं। यह बात आवश्यक है, कि कर्मयोगशास्त्र का जो विवेचन भगवद्गीता में किया है, उसे हर एक मानव सीखे।

सारांश—मनुष्य जो कुछ करता है जैसे– खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना, बैठना, श्वासोच्छवास करना, हंसना, रोना, सूंघना, देखना, बोलना, सुनना, सोना, जागना, मनन और ध्यान करना, निश्चय करना या चुप रहना इत्यादि सब भगवद्गीता के अनुसार कर्म ही हैं। चाहे वे कर्म कायिक हो, वाचिक हो अथवा मानसिक हो और तो क्या, जीना-मरना भी कर्म ही है। कर्म शब्द से भी अधिक भ्रमकारक शब्द 'योग' है। चित्तवृत्तियाँ या इन्द्रियों का निरोध करना ध्यानयोग है।

'योगः कर्मशु कौशलम्' अर्थात कर्म करने की किसी विशेष प्रकार की कुशलता, युक्ति, चतुराई को योग कहते हैं।

इसके पश्चात् उन्होंने उपदेश दिया है कि बुद्धि को स्थिर या शांत रखकर आसक्ति को छोड़ दें, योगस्थ होकर कर्मों का आचरण करें। सिद्धि और असिद्धि दोनों में समत्व बुद्धि रखने को योग कहते हैं। बुद्धि की समता हो जाने पर कर्म करनेवाले को कर्म संबंधी पाप-पुण्य की बाधा नहीं होती है। इसलिए तू इस योग को प्राप्तकर।

वैदिक धर्म के अनुसार दो मार्ग हैं—एक मार्ग यह है कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर सब कर्मों का संन्यास अर्थात त्याग कर दें, दूसरा यह कि ज्ञानप्राप्ति हो जाने पर कर्मों को न छोड़े उन्हें जन्म-भर ऐसी युक्ति के साथ करते रहे कि उनके पाप-पुण्य की बाधा न होने पावे। इन्हीं दोनों मार्गों को गीता में संन्यास और कर्मयोग कहा है। संन्यास माने त्याग और योग माने मेल।

यहाँ पर योग का अर्थ निष्काम कर्मयोग ही समझना

चाहिये। क्योंकि गीता आदि अनेक ग्रन्थ मुक्त कंठ से कह रहे हैं कि जनकजी के बर्ताव का यही रहस्य है।

'गृहस्थाश्रम में रहकर भी मोक्ष की प्राप्ति कैसे की जा सकती है।' जनक ही का उदाहरण दिया गया है। कोट के मतानुसार समाजशास्त्र या कर्मयोग शास्त्र का तात्त्विक विचार करने के लिए इसी आधिभौतिक मार्ग का अवलम्ब करना चाहिये। इस मार्ग का अवलम्ब करके पंडितों ने इतिहास की आलोचना की और सब व्यवहार शास्त्रों का यही तात्पर्य निकला है कि इस संसार में प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म यही है कि समस्त मानव जाति से प्रेम करें और सब लोगों के कल्याण के लिए सदैव प्रयत्न करता रहे।

हमारे शास्त्रकारों ने निश्चित किया है कि आत्मा का कल्याण अथवा आध्यात्मिक पूर्णावस्था ही प्रत्येक मनुष्य का पहला कर्त्तव्य है। अन्य प्रकार की हितों की अपेक्षा उसी को प्रधान मानना चाहिये और तद्नुसार कम-अकर्म का विचार करना चाहिये।

आहार, निद्रा, भय और मैथुन; मनुष्य और पशुओं के लिए एक ही समान स्वाभाविक हैं, मनुष्य और पशु में कुछ भेद है तो धर्म का। जिस मनुष्य में यह धर्म नहीं है वह पशु के समान ही है।

चौथा प्रकरण (चौथा अध्याय):—हे भारत! जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की प्रबलता फैल जाती है, तब-तब मैं स्वयं ही जन्म (अवतार) लिया करता हूँ। साधुओं की संरक्षा के निमित्त और दुष्टों का नाश करने के लिए युग-युग में धर्म संस्थापना के अर्थ में जन्म लिया करता हूँ।

कर्मफल की इच्छा करनेवाले लोग इस लोक में देवताओं की पूजा इसलिए किया करते हैं कि ये कर्मफल इस मनुष्य लोक में शीघ्र ही मिल जाते हैं।

परमेश्वर की आराधना का सच्चा फल है, मोक्ष। परन्तु वह तभी प्राप्त होता है कि जब कालान्तर से एवं दीर्घ और एकांत

उपासना से कर्मबंधन का पूर्ण नाश हो जाता है।

करने पर भी जो कर्म हमें बाध्य नहीं करता, उसके विषय में कहना चाहिये कि उसका कर्मत्व या बंधकत्व नष्ट हो गया, तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ।

ज्ञानी पुरुष उसी को पंडित कहते हैं कि जिसके सभी समारंभ अर्थात उद्योग फल की इच्छा से विरहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से भष्म हो जाते हैं। कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है अर्थात फल की वासना छोड़नेवाला, चित्त का नियमन करनेवाला कर्मेन्द्रियों से भी कर्म करते समय पाप का भागी नहीं होता। इन्द्रियाँ तो कर्म करती हैं, पर बुद्धि सम रहने के कारण उन कर्मों का परिणाम (पाप-पुण्य) कर्त्ता को नहीं लगता।

हे परंतप, द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है। क्योंकि हे पार्थ! सब प्रकार के समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है। अपने लिए नहीं तो लोक संग्रह के निमित्त कर्त्तव्य समझकर सभी कर्म करने ही चाहिये और जब भी वे ज्ञान एवं समबुद्धि से किये जाते हैं तब उनके पास पुण्य की बाधा कर्मों की नहीं होती और यह ज्ञानयज्ञ मोक्षप्रद होता है। अतः गीता का सबलोगों को यही उपदेश है कि यज्ञ करो, किन्तु ज्ञानपूर्वक निष्काम बुद्धि से करो।

सब पापियों से यदि अधिक पाप करनेवाला हो, तो भी इस ज्ञान नौका से ही तू सब पापों को पार कर जाएगा। जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि सब ईंधनों को भष्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन! यह ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को जला डालती है। ज्ञान की महत्ता बतला दी। अब बताते हैं कि इस ज्ञान की प्राप्ति किस उपायों से होती है।

जो श्रद्धावान पुरुष इन्द्रिय-संयम करके उसी के पीछे पड़ा रहे उसे भी ज्ञान मिल जाता है और ज्ञान प्राप्त हो जाने से तुरन्त ही उसे परमशांति प्राप्त होती है।

बुद्धि से ज्ञान और शांति प्राप्त होगी, वही श्रद्धा से भी

मिलती है। परन्तु जिसको अपनी बुद्धि नहीं और श्रद्धा भी नहीं, वह जिसे न स्वयं ज्ञान है और न श्रद्धा भी है, उस संशयग्रस्त मनुष्य का नाश हो जाता है। संशयग्रस्त को न यह लोक है न परलोक एवं सुख भी नहीं है। हे धनंजय! उस आत्मज्ञानी पुरुष को कर्मबद्ध नहीं कर सकते कि जिसने कर्मयोग के आश्रय से कर्म अर्थात कर्मबंधन त्याग दिये हैं और ज्ञान से जिसके सब संदेह दूर हो गये हैं। इसलिए अपने हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए इस संशय को ज्ञानरूप तलवार से काटकर कर्मयोग का आश्रय कर। हे भारत! युद्ध के लिए खड़ा हो।

पाँचवाँ अध्याय—जो किसी का कभी द्वेष नहीं करता और किसी की भी इच्छा नहीं करता उस पुरुष को कर्म करने पर भी नित्य सन्यासी समझना चाहिये। क्योंकि हे महाबाहो अर्जुन! जो सुख-दुःख आदि द्वन्दों से मुक्त हो जाय, वह अनायास ही कर्मों के सब बंधनों से मुक्त हो जाता है।

वैसे ही यहाँ भी कहा है कि अहंकार बुद्धि एवं फलाशा के विषय में आसक्ति छोड़कर केवल कायिक, वचिक या केवल मानसिक, कोई भी कर्म किया जाय तो भी कर्त्ता को उसका द्वेष नहीं लगता। अहंकार के न रहने से जो कर्म होते हैं, वे सिर्फ इन्द्रियों के ही हैं और मन आदि सभी इन्द्रियाँ प्रकृति के विकार हैं। अतः ऐसे कर्म का बंधन कर्त्ता को नहीं लगता।

सब कर्मों का मन से (प्रत्यक्ष नहीं) संन्यासकर जितेन्द्रिय देहावान पुरुष नौ द्वारों के देहरूपी नगर द्वारों में न कुछ करता और न कराता हुआ आनन्द से पड़ा रहता है। अर्थात वह जानता है कि आत्मा अकर्त्ता है, सब खेल तो प्रकृति का है। आध्यात्म दृष्टि से यही उपपति बतलाते हैं कि कर्मयोगी कर्मों को करके भी युक्त कैसे बना रहता है।

प्रभु अर्थात आत्मा या परमेश्वर लोगों के कर्तृत्व उनके कर्मों को या कर्मफल के संयोग को भी निर्माण नहीं करता। स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही सब कुछ किया करती है। परमेश्वर किसी का पाप और किसी का पुण्य भी नहीं लेता। ज्ञान पर

अज्ञान का पर्दा पड़े रहने के कारण अर्थात् माया से प्राणी मोहित हो जाते हैं।

उस परमार्थतत्त्व में ही जिनकी बुद्धि रंग जाती है, वही जिनका अन्तःकरण रम जाता है और जो तत्परायण हो जाते हैं, उनके पाप ज्ञान से बिल्कुल धुल जाते हैं और फिर वे जन्म नहीं लेते। इस प्रकार जिसका अज्ञान नष्ट हो जाय, उस कर्मयोगी की संन्यासी की नहीं, बल्कि जीवनमुक्त अवस्था हो जाती है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर यह अवस्था जीते-जी प्राप्त हो जाती है। अतः इसे ही जीवनमुक्त अवस्था कहते हैं। आध्यात्मविद्या की यही पराकाष्ठा है और चित्तवृत्ति-निरोध-रूपी जिन साधनाओं से यह अवस्था प्राप्त हो सकती है उनका विस्तार अगले अध्याय में है।

जीवनमुक्त अवस्था का वर्णन–प्रिय वस्तु को पाकर प्रसन्न न हो जाओ और अप्रिय पाने से खिन्न भी न होओ। जिसकी बुद्धि स्थिर है और जो मोह में नहीं फँसता वही ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित हुआ। बाह्य पदार्थों के संयोग से (इन्द्रियों से होनेवाले) अर्थात विषयोपभोग में जिसका मन आसक्त नहीं उसे ही आत्मसुख मिलता है और वह ब्रह्मयुक्त पुरुष अक्षय सुख का अनुभव करता है। बाहरी पदार्थों के संयोग से ही उत्पन्न होनेवाले भोगों का आदि और अंत है, अतएव वे सब दुःख के ही कारण है। हे कौन्तेय! उनमें पंडित लोग रत नहीं होते। शरीर छुटने के पहले अर्थात् मरण-पर्यन्त काम, क्रोध से होनेवाले वेग को इस लोक में ही सहन करने में (इन्द्रिय संयम से) जो समर्थ होता है, वही मुक्त और वही सच्चा सुखी है।

इस प्रकार (बाह्य सुख-दुःखों की अपेक्षा न कर) जो अन्तःकरण में सुखी हो जाय जो अपने आप में ही आराम पाने लगे और जिसे अन्तःप्रकाश मिल जाय वह योगी ब्रह्मरूप हो जाता है। अतः उसे ही ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त हो जाता है। जिन ऋषियों की इन्द्रियबुद्धि छुट गई है, जिन्होंने इस तत्त्व को जान लिया है और जो आत्मसंयम से सब प्राणियों का हित करने में लगे हैं उन्हें ब्रह्मनिर्वाण रूप मोक्ष मिलता है।

दोनो भौवों के बीच में दृष्टि को जमाकर और नाक से चलनेवाली प्राण और अपान को सम करके जिसने इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि का संयम कर लिया है तथा जिनके भय, इच्छा और क्रोध छूट गये हैं, वह मोक्षपरायण मुनि सदा सर्वदा मुक्त ही है।

श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में संन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त।

षष्टम् अध्याय–इतना तो सिद्ध हो गया कि मोक्षप्राप्ति होने के लिए ज्ञान के सिवा और किसी की भी अपेक्षा न हो, तो भी लोक-संग्रह की दृष्टि से ज्ञानी पुरुष के ज्ञान के अनन्तर भी कर्म करते रहना चाहिये, परन्तु फलाशा छोड़कर उन्हें सम बुद्धि से इसलिए करें ताकि वे बाधक न हो जाय। इसे ही कर्मयोग कहते हैं और कर्म संन्यास मार्ग की अपेक्षा यह अधिक श्रेयस्कर है। भगवान ने कहा–काम, क्रोध आदि ये शत्रु मनुष्य की इन्द्रियों में, मन में और बुद्धि में घर करके उसके ज्ञान-विज्ञान का नाश कर देते हैं। अतः तू इन्द्रियों के निग्रह से इन्हें पहले जीत ले। फलाशा छोड़कर कर्म करनेवाले पुरुष को ही सच्चा संन्यासी समझना चाहिये, कर्म छोड़नेवाले को नहीं। संकल्प त्याग के बिना कोई भी योगी नहीं होता। कर्मफल का त्याग करके योगी पूर्ण शांति को प्राप्त करता है।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि शांति का संबंध कर्मत्याग से न जोड़कर केवल फलाशा के त्याग से वर्णित है। अर्थात मन से करे, शरीर के द्वारा या केवल इन्द्रियों के द्वारा उन्हें कर्म करने चाहिये। भाव यह है कि निष्काम कर्म करते-करते ही चित्त शांत होकर उसी के द्वारा अंत में पूर्ण योगसिद्ध हो जाती है। इस प्रकार के निष्काम कर्मयोग या फलाशा संन्यास की सिद्धि प्राप्त कर लेना प्रत्येक मनुष्य के अधिकार में है। जो स्वयं प्रयत्न करेगा उसे इसकी प्राप्ति हो जाना कुछ असंभव नहीं है।

मनुष्य अपना उद्धार आप करें। अपने आप को कभी गिरने न दे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं ही अपना बंधु और स्वयं ही अपना शत्रु है। जिसने अपने आप को जित लिया वह स्वयं

अपना बंधु है, परन्तु जो अपने आपको नहीं पहचानता वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान वैर करता है। जिसने अपने आत्मा अर्थात अन्तःकरण को जीत लिया हो और जिसे शांति प्राप्त हो गई हो उसकी आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में सम एवं स्थिर रहता है।

जिसकी आत्मा ज्ञान और विज्ञान से अर्थात विविध ज्ञान से तृप्त हो जाय, जो अपनी इन्द्रियों को जीत ले, जो कुछ कुटस्थ अर्थात मूल में जा पहुँचे और मिट्टी, पत्थर तथा सोने को एक-सा मानने लगे उसी योगी पुरुष को मुक्त अर्थात सिद्धावस्था में पहुँचा हुआ कहते हैं। सुहृदय, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करनेयोग्य और बांधवों के विषय एवं साधु तथा इष्ट लोगों के विषय में भी जिसकी बुद्धि सम हो गई हो, वही विशेष योग्यता का है।

प्रत्युत्तर की इच्छा न रखकर सहायता करनेवाले को सुहृदय कहते हैं। कर्मयोगी एकांत में अकेला रहकर चित्त और आत्मा का संयम करे, किसी भी काम्य वासना को न रखकर पाश (परिग्रह) छोड़कर निरंतर अपने योगाभ्यास में लगा रहे।

निडर हो, शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्य व्रत पालनकर तथा मन का संयम करके मुझमें चित्त लगाकर, मत्परायण होता हुआ युक्त होकर बैठ जाय। शुद्ध स्थान पर काय, ग्रीवा एवं मस्तक को समकर (मनसैव इन्द्रिय-ग्राम विनियम्य) मन से ही इन्द्रियों को रोके। हे अर्जुन! अतिशय खानेवाले या बिल्कुल न खानेवाले को और खूब सोनेवाले अथवा जागरण करनेवाले को यह योग सिद्ध नहीं होता। जिसका आहार-विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा-तुला है और सोना-जागना परिमित है। उसे यह योग सुखावह होता है।

संयम मन आत्मा में जब स्थिर हो जाता है और किसी भी उपभोग की इच्छा नहीं रहती तब कहते हैं वह मुक्त हो गया। वायुरहित स्थान पर रखे हुए दीपक की ज्योति जैसे निश्चिल होती है वही उपमा चित्त को संयम करके योगाभ्यास करनेवाले योगी

की दी जाती है।

आत्मा को ही देखकर आत्मा में ही संतुष्ट होकर रहता है। जहाँ बुद्धिगम्य और इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख का उसे अनुभव होता है और जहाँ एक बार स्थिर हुआ जो तत्व से कभी भी नहीं डिगता ऐसे ही स्थिति को पाने से उसकी अपेक्षा दूसरा कोई भी लाभ उसे अधिक नहीं जँचता और जहाँ स्थिर है होने से कोई भी बड़ा भारी दुःख वहाँ से उसको विचला नहीं सकता। उसको दुःख के स्पर्श से वियोग अर्थात योग नाम की स्थिति कहते हैं। और इस योग का आचरण मन को उकताने न देकर निश्चय से करना चाहिये।

संकल्प से उत्पन्न होनेवाले सब कामों अर्थात वासनाओं का निःशेष त्यागकर और मन से ही सब इन्द्रियों का चारों ओर से संयमकर धैर्ययुक्त बुद्धि से धीरे-धीरे शांत होता जाय और मन को आत्मा में स्थिर करके कोई भी विचार मन में न आने दे। इस रीति से चित्त को एकाग्र करते हुए चंचल और स्थिर मन जहाँ-जहाँ से बाहर जाने लगे वहाँ-वहाँ से उसको रोककर आत्मा के ही अधीन करें।

मन की समाधि लगाने की क्रिया का यह वर्णन कठोपनिषद में दी गई रथ की उपमा से अच्छी तरह व्यक्त होता है। जिस प्रकार उत्तम सारथी रथ के घोड़ों को ईधर-उधर न जाने देकर सीधे रास्ते में ले जाता है, उसी प्रकार का प्रयत्न मनुष्यों को समाधि के लिए करना पड़ता है। जिसने किसी भी विषय पर मन को स्थिर करने का अभ्यास किया है, उसकी समझ में आ जाएगा। मन को एक ओर रोके तो वह दूसरी ओर खिसक जाता है और वह आदत रुके बिना समाधि लग नहीं सकती। इस प्रकार योगाभ्यास से चित्त स्थिर होने पर जो फल मिलता है उसका वर्णन है।

इस प्रकार शांत निष्पाप योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है। इस रीति से निरन्तर अपना योगाभ्यास करनेवाला योगी पापों से छूटकर ब्रह्मसंयोग से होनवाले अत्यन्त सुख का आनन्द से

उपभोग करता है।

अर्जुन ने कहा–हे कृष्ण! यह मन चंचल हठीला बलवान और दृढ़ है। वायु के समान, हवा की गठरी बांधने के समान इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखता है।

भगवान ने कहा–हे महाबाहो अर्जुन! इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि मन चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से इसे अधीन किया जा सकता है। जिसका अन्तःकरण अपने काबू में नहीं है उसको यह योग प्राप्त होना कठिन है। किन्तु अन्तःकरण को काबू में रखकर प्रयत्न करते रहने पर उपाय से (इस योग का) प्राप्त होना संभव है। कठिन कार्य भी अभ्यास और दीर्घ उद्योग से सिद्ध हो जाता है। किसी भी काम को बार-बार करना अभ्यास कहलाता है। वैराग्य का मतलब है राग या प्रीति न रखना। अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है।

सप्तम अध्याय–योगयुक्त पुरुष समस्त प्राणियों में परमेश्वर को देखता है । अतः जब इन्द्रियनिग्रह करने की विधि बतला चुके तब यह बतलाना आवश्यक है कि ज्ञान और विज्ञान किसे कहते हैं और परमेश्वर का पूर्ण ज्ञान होकर कर्मों को न छोड़ते हुए भी कर्मयोग की किन विधियों से अन्त में मोक्ष मिलता है। सातवें अध्याय से लेकर सत्रहवें अध्याय तक अंतपर्यन्त ग्यारह अध्याय में इसी विषय का वर्णन है। अठारहवें अध्याय में सब कर्मयोग का उपसंहार है।

सृष्टि में अनेक प्रकार के अनेक विनाशवान पदार्थों में एक ही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है इस समझ का नाम ज्ञान है और एक ही नित्य परमेश्वर से विविध नाशवान पदार्थों की उत्पति को समझ लेना विज्ञान कहलाता है।

यद्यपि परमेश्वर एक है तथापि उपासना की दृष्टि से उसके दो भेद हैं। व्यक्त और अव्यक्त। अव्यक्त स्वरूप केवल बुद्धि से ग्रहण करनेयोग्य है और श्रद्धा या भक्ति से व्यक्त स्वरूप की उपासना करने से उसके द्वारा अव्यक्त का ज्ञान कैसे

होता है?

श्रीभगवान ने कहा–हे पार्थ! मुझमें चित्त लगाकर और मेरा ही आश्रय करके कर्मयोग का आचरण करते हुए जिस प्रकार मेरा पूर्ण संशय विहीन ज्ञान होगा, उसे सुन। विज्ञान समेत इस पूरे ज्ञान को मैं तुझसे कहता हूँ कि जिसके जान लेने से इस लोक में फिर और कुछ भी जान लेने को शेष नहीं रह जाता।

हजारो मनुष्यों में कोई एकआध ही सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवाले इन सिद्ध पुरुषों में एक आध को ही मेरा सच्चा ज्ञान हो जाता है।

पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ प्रकार में मेरी प्रकृति विभाजित है।

हे धननंजय! मुझसे परे और कुछ भी नहीं है। धागे में पिरोई हुई मणियों के समान मुझमें यह गुथा हुआ है।

इससे प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्व को धारण करनेवाली पृथ्वी; ये सब उत्पन्न होते हैं। (अधिक जानना हो तो गीतारहस्य का आठवाँ प्रकरण देखें।)

चौथे श्लोक में कहा है कि पृथ्वी, अप, प्रभृति पंचतत्त्व मैं ही हूँ, इन तत्वों में जो गुण हैं वह भी मैं ही हूँ। इस कथन का स्पष्टीकरण करते हैं कि ये सब पदार्थ एक ही धागे में मणियों के समान पिरोये हुए हैं। हे कौन्तेय! जल में रस हूँ, चन्द्र, सूर्य की प्रभा में मैं ही हूँ, अग्नि का तेज हूँ, सब प्राणियों की जीवन शक्ति और तपस्वियों का तप मैं ही हूँ। मुझको सब प्राणियों का सनातन बीज समझ।

इनको व्याप्त करके इनके परे भी वही परमेश्वर है। परमेश्वर के सच्चे स्वरूप को पहचानने के लिए इस मायिक जगत से भी परे जाना चाहिये।

हे कौन्तेय! तुम जिसे देख रहे हो, वह मेरी उत्पन्न की हुई माया है। तू मुझे सब प्राणियों के गुणों से युक्त मत समझ। माया में डूबे रहनेवाले लोग परमेश्वर को भूल जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं।

इस जगत में परमेश्वर के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इन भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना करते-करते बुद्धि शुद्ध हो जाती है तथा अंत में नित्य परमेश्वर का ज्ञान होता है। ज्ञानी भक्त होने की उमंग प्रत्येक मनुष्य को रखनी चाहिये।

भक्त चार प्रकार के होते हैं—रोगी, जिज्ञासु, अर्थार्थी यानी काम्य वासनाओं को मन में रखनेवाले और ज्ञानी। ज्ञानी को मैं विशेष प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे विशेष प्रिय है। ज्ञानी तो मेरी आत्मा है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। मैं प्राणीमात्र में वास करता हूँ, इसी से मुझको वासुदेव कहते हैं।

हे अर्जुन! इच्छाओं और द्वेष से उपजनेवाले द्वन्द्वों के मोह से सभी प्राणी इस सृष्टि के भ्रम में फँस जाते हैं। परन्तु जिन पुण्यत्माओं के पापों का अंत हो गया है वे सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के मोह से छूटकर दृढ़वत होकर मेरी भक्ति करते हैं।

अष्टम अध्याय—श्री भगवान ने कहा—सबसे परम अक्षर अर्थात कभी भी न नष्ट होनेवाला तत्व ब्रह्म है और प्रत्येक वस्तु का अपना मूल भाव (स्वभाव) आध्यात्म कहलाता है। वास्तव में एक ही परमेश्वर सबमें व्याप्त है। नानात्व सच्चा नहीं है। अन्तकाल में यह सर्वव्यापी भगवान कैसे पहचाना जाता है?

इसमें संदेह नहीं कि अंतकाल में जो मेरा ही स्मरण करता हुआ देह त्यागता है, वह मेरे स्वरूप में मिल जाता है। हे कौन्तेय! सदा अर्थात जन्मभर उसी में रंगे रहने से मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, उसी में वह जा मिलता है। इसलिए सदैव मेरा स्मरण करता रह और युद्ध कर। मुझमें मन और बुद्धि अर्पण करने से मुझमें ही निःसंदेह आ मिलेगा। मोक्ष तो परमेश्वर की ज्ञानयुक्त भक्ति से आ मिलता है। यह निर्विवाद है कि मरण समय में भी उसी भावना को स्थिर रहने के लिए जनमभर वही अभ्यास करना चाहिये। किन्तु गीता का यह अभिप्राय नहीं कि उसके लिए कर्मों को छोड़ देना चाहिये, बल्कि गीताशास्त्र का सिद्धान्त है कि स्वधर्म के अनुसार जो कर्म प्राप्त होते जायें भगवदभक्त को उन सबको निष्काम बुद्धि से करते रहना चाहिये।

अंतकाल में योग की सामर्थ्य से और भक्तियुक्त होकर मन को स्थिर करके दोनों भौंहों के बीच में प्राण को भली भाँति रखकर वेद को जाननेवाले जिसे अक्षर कहते हैं तुझे संक्षेप में बतलाता हूँ।

सब इन्द्रियरूपी द्वारों को रोककर संयमकर और मन का हृदय में निरोध करके मस्तक में अपना प्राण ले जाकर समाधियोग में स्थिर होनेवाला इस एकाक्षर ब्रह्म ॐ का जपकर मेरा स्मरण करता हुआ देह छोड़कर जाता है, उसे उत्तम गति मिलती है।

हे पार्थ! अनन्यभाव से सदा सर्वदा जो मेरा नित्य स्मरण करता रहता है, उस कर्मयोगी को मेरी प्राप्ति सुलभ रीति से होती है।

कोई भी कर्मयोगी मोह में नहीं फँसता। अतएव हे अर्जुन! तू सदा सर्वदा योगयुक्त हो। इसे उक्त तत्व को जान लेने से यज्ञ, तप और दान में जो पुण्यफल बतलाया गया है, (कर्म) योगी उस सबको छोड़ जाता है और उसके परे के आद्यस्थान को पा लेता है।

नवम अध्याय—पिछले अध्याय में कहा गया है कि अंतकाल में भी उस स्वरूप को मन में स्थिर रखने के लिए पातांजल योग से समाधि लगाकर अंत में ॐकार की उपासना की जावे। परन्तु पहले तो अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होना ही कठिन है, फिर उसमें समाधि की आवश्यकता होने से तो साधारण लोगों को यह मार्ग छोड़ देना ही पड़ेगा।

श्री भगवान ने कहा—अब तू दोषदर्शी नहीं है। इसलिए गुह्य से भी गुह्य विज्ञान सहित ज्ञान तुझे बतलाता हूँ। जिसको जान लेने से पाप से मुक्त होवोगे। यह ज्ञान समस्त गुह्यों के राजा अर्थात राजविद्या अर्थात सब विद्याओं से श्रेष्ठ, उत्तम, पवित्र, प्रत्यक्ष बोध देनेवाला आचरण में सुखकारक अव्यक्त और धर्म्य है।

इस धर्म पर श्रद्धा न रखनेवाले, पुरुष मुझे नहीं पाते वे मृत्युपर्यन्त संसार के मार्ग में लौट आते हैं।

हे कौन्तेय! कल्प के अंत में सब भूत मेरी प्रकृति में आ मिलते हैं और कल्प के आरम्भ में ही फिर निर्माण करता हूँ। परन्तु हे धनंजय! इस सृष्टि निर्माण के काम में मेरी आसक्ति नहीं है; मैं उदासीन सा रहता हूँ। इस कारण वे कर्म बंधन मुझे नहीं होते। प्रत्येक के कर्मानुसार परमेश्वर उसे भला बुरा जन्म देता है, अतएव वह स्वयं इन कर्मों से अलिप्त है।

मूढ़ लोग मेरे स्वरूप को नहीं जानते कि जो सब भूतों का महान ईश्वर है, मनुष्य की देह धारण करने से वे मुझे मानव तनधारी समझकर मेरी अवहेलना करते हैं! उनकी आशायें व्यर्थ, कर्म फिजूल, ज्ञान निरर्थक और चित्त भ्रष्ट हैं और वे मोहात्मक राक्षसी स्वभाव का आश्रय किये रहते हैं। परन्तु हे पार्थ! दैवी प्रकृतिवाले महात्मालोग यत्नशील दृढ़वत एवं नित्य योग युक्त होकर सदा मेरी उपासना करते हैं।

जो अनन्य निष्ठ लोग चिंतनकर मुझे भजते हैं उन नित्य योगयुक्त पुरुषों का योगक्षेम मैं किया करता हूँ। हे कौन्तेय! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो होम करता है, जो दान करता है, जो तप करता है वह सब मुझे अर्पण कर। इस प्रकार बर्तने से कर्मों के शुभ-अशुभ फलरूप बंधनों से तू मुक्त रहेगा। और कर्मफलों के संन्यास करने के इस योग से मुक्तात्मा अर्थात शुद्ध अन्तःकरण होकर मुक्त हो जाएगा एवं मुझमें मिल जाएगा।

इससे प्रकट होता है कि भगवद्भक्त भी कृष्णार्पण बुद्धि से समस्त कर्म करे, उन्हें छोड़ न दें।

हे कौन्तेय! श्रद्धायुक्त होकर अन्य देवताओं के भक्त बनकर जो लोग भजन करते हैं, वे भी विविधपूर्वक न हो तो भी मेरा ही भजन करते हैं। क्योंकि सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ। किन्तु वे तत्वतः मुझे नहीं जानते इसलिए वे गिर जाया करते हैं।

देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को, पितरों को पूजनेवाले पितरों को और भूतों को पूजनेवाले भूतों के पास और मेरा भजन करनेवाले मेरे पास आते हैं। भगवान इस ओर न देखकर कि मेरा

भक्त मुझे क्या समर्पण करता है, केवल उसके भाव की ही ओर दृष्टि देखकर उसकी भक्ति स्वीकार करते हैं।

मुझे न कोई प्रिय है और न अप्रिय। भक्ति से जो मेरा भजन करते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।

बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह अनन्य भाव से मुझे भजता है तो उसे साधु ही समझना चाहिये। मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता। मुझमें मन लगाकर मेरा भक्त हो। इस प्रकार मत्परायाण होकर योगाभ्यास करने से मुझे ही पावेगा।

दशवां अध्याय—अहिंसा, समता, संतोष, तप, यज्ञ अनेक प्रकार के प्राणिमात्र के भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। जो मेरी इस विभूति अर्थात विस्तार और योग करने की युक्ति या समाधि तत्व को जानता है, उसे निस्संदेह स्थिर कर्मयोग प्राप्त होता है।

मनुष्य की समत्व बुद्धि को उन्नत करने का काम भी परमेश्वर ही करता है। जब मनुष्य के मन में एकबार कर्मयोग की जिज्ञासा जागृत हो जाती है, तब कोल्हु में लगे हुए बैल के समान वह आप ही आप पूर्ण सिद्धि की ओर खींचा चला जाता है। आत्मा भी तो परमेश्वर ही है, इस कारण भक्ति मार्ग में ऐसा वर्णन है कि फल अथवा बुद्धि परमेश्वर प्रत्येक मनुष्य को पूर्वकर्मों के अनुसार देता है।

हे भगवान! मुझे यह बतलाइये कि सदा तुम्हारा चिंतन करता हुआ मैं तुम्हें कैसे पहचानूँ और किन-किन पदार्थों से तुम्हारा चिंतन करूँ। हे जनार्दन! अपनी विभूति और योग मुझे विस्तार से बतलाओ। क्योंकि अमृततुल्य तुम्हारे इस भाषण को सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती।

हे गुड़ाकेश! सब भूतों के भीतर रहनेवाला आत्मा मैं ही हूँ और सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।

भगवान ने कहा—मैं ही लोगों को क्षय करनेवाला महाकाल हूँ। लोगों का संहार करने मैं यहाँ आया हूँ अर्थात् तू कुछ करे या ना करे सब मरे हुए हैं। इसलिए तू उठ और निमित्त बनकर यश प्राप्त कर ले।

सभी बातें बतलाकर भगवान ने अर्जुन को अपना विराट रूप दिखलाया एवं देखने की दृष्टि भी दी। इस प्रकार मुख्य-मुख्य विभूतियाँ बतलाकर अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं। जो-जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी या प्रभाव से युक्त है उसको तू मेरे तेज के अंश से उपजी समझ। हे अर्जुन! तुझे इस फैलाव को जानकर क्या करना है? संक्षेप में बतला देता हूँ कि मैं अपने एक ही अंश से इस सारे जगत को व्याप्त कर रहा हूँ।

एकादश अध्याय–जब भगवान ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया तो उसे सुनकर अर्जुन को परमेश्वर का वह विश्वरूप देखने की इच्छा हुई। भगवान ने उसे जिस विश्वरूप का दर्शन कराया उसका वर्णन इस अध्याय में है।

अर्जुन ने कहा–मुझपर अनुग्रह करने के लिए तुमने आध्यात्मसंगत जो परम गुप्त बातें बतलायी उससे मेरा मोह जाता रहा। इसी प्रकार हे! कमलनयन भूतों की उत्पति, लय और अक्षय महात्म्य भी मैंने विस्तार सहित सुन लिया। अब तुमने जैसा वर्णन किया है उसे मैं देखना चाहता हूँ। हे प्रभु, तुम मुझे अपना अनन्य स्वरूप दिखलाओ। श्री कृष्ण ने विश्वरूप का प्रत्यक्ष दृश्य अर्जुन को दिखला दिया है कि दुष्ट मनुष्य अपने कर्मों से ही मरते हैं। उनको मारनेवाले तो सिर्फ निमित्त है, इसलिए मारनेवाले को उसका दोष नहीं लगता

केशव के इस भाषण को सुनकर अर्जुन अत्यन्त भयभीत हो गया और नम्र होकर फिर कहा–हे हृषिकेश! सब तुम्हारे कीर्तन से प्रसन्न होता है और उससे अनुरक्त होता है। राक्षस तुमसे डरकर भाग जाते हैं। तुम तो ब्रह्मदेव के भी आदि कारण हो तो तुम्हारी वंदना वे कैसे न करेंगे। सत्-असत् भी तुम्ही हो और इन दोनों से परे जो अक्षर है वह भी तुम ही हो।

तुम्हारी इस महिमा को बिना जाने मित्र समझकर और प्यार से या भूल से, अरे कृष्ण, ओ यादव इत्यादि जो कुछ मैंने अनादर से कह डाला हो उसके लिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे क्षमा करें। इस चराचर जगत के पिता तुम ही हो, तुम पूज्य

हो और गुरु के भी गुरु हो। त्रैलोक्य भर में तुम्हारी बराबरी का कोई नहीं है। फिर हे अतुल प्रभाव! अधिक कहाँ से होगा? तुम समर्थ हो इसलिए शरीर झुकाकर तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि प्रसन्न हो जाओ। जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के साथ, सखा अपने सख्य के अपराधों को क्षमा करता है, उसी प्रकार हे देव! प्रेमी आपको प्रिय के अर्थात् प्रेमपात्र के (मेरे) सब अपराध क्षमा करने चाहिये।

श्री भगवान ने कहा–हे अर्जुन! तुम पर प्रसन्न होकर यह तेजोमय और विश्वरूप अपनी योग सामर्थ्य से मैंने तुझे दिखलाया है। इसे तेरे सिवा और किसी ने पहले नहीं देखा है। मेरे ऐसे घोर रूप को देखकर अपने चित्त में व्यथा न होने दो। डर छोड़कर संतुष्ट मन से मेरे स्वरूप को देख लो।

अर्जुन ने कहा–हे जनार्दन! तुम्हारे इस सौम्य और मनुष्य देहधारी रूप को देखकर अब मन ठिकने आ गया और मैं पहले की भाँति सावधान हो गया हूँ।

श्री भगवान ने कहा–जैसे तूने मुझे देखा है, वैसे मुझे वेदों से, तप से, दान से अथवा यज्ञ से भी कोई नहीं देख सकता। केवल अनन्य भक्ति से ही इस प्रकार मेरा ज्ञान होगा। मुझे देखना और हे परंतप! मुझमें तत्व से प्रवेश करना संभव है।

द्वादश अध्याय–

कर्मयोग सिद्धि के लिये सातवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान के निरूपण का आरम्भ आठवें अध्याय में अक्षर अनिर्देश्य और अव्यक्त ब्रह्म का स्वरूप बताया है। फिर नवें में भक्तिरूप, दशवें, ग्यारहवें में विभूति वर्णन एवं विश्वरूप दर्शन इन दो उपाख्यानों का वर्णन किया है और ग्यारहवें के अंत में साररूप से अर्जुन को उपदेश दिया है कि भक्ति से निसंग बुद्धि से समस्त कर्म करते रहो। और उपदेश किया है कि मुक्तचित्त से युद्ध कर।

एक ही सर्वव्यापी परमेश्वर की भावना रखकर जो भक्ति की जाती है, वही सच्ची व्यक्त उपासना है। अर्जुन ने कहा–इस प्रकार योग युक्त होकर जो भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं और

जो अव्यक्त अक्षर अर्थात ब्रह्म की उपासना करते हैं, उनमें उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?

श्री भगवान ने कहा–मुझमें मन लगाकर सदा युक्तचित्त से हो करके, परम श्रद्धा से जो मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मत में सबसे उत्तम योगी है।

व्यक्त देहधारी मनुष्यों को अव्यक्त उपासना का मार्ग कष्ट से सिद्ध होता है परन्तु जो मुझमें सब कर्मों का संन्यास अर्थात् अर्पण करके मत्परायण होते हुए अनन्यभाव से मेरा ध्यान कर मुझे भजते हैं। हे पार्थ! मुझमें चित्त लगानेवाले उनलोगों का मैं इस मृत्युमय संसार सागर से बिना विलम्ब किए उद्धार कर देता हूँ। अतएव मुझमें ही मन लगा, मुझमें बुद्धि को स्थिर कर। जिससे तू आगे निःसंदेह मुझमें ही निवास करेगा। इसमें भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। दूसरे श्लोक में पहले यह सिद्धांत किया है कि भगवत्भक्त उत्तम योगी है। भक्ति मार्गवालों को स्मरण रखना चाहिये कि भक्ति मार्ग में भी कर्मों को न छोड़कर, उन्हें ईश्वरार्पणपूर्वक अवश्य करना पड़ता है और इसी हेतु छठे श्लोक में ही सब कर्मों का संन्यास करके मुझमें ये शब्द रखे गये हैं कि भक्ति मार्ग में भी कर्मों को स्वरूपतः न छोड़े किन्तु परमेश्वर में उन्हें अर्थात उनके फलों को अर्पण कर दें।

भगवान ने अपना प्यारा जिस भक्तिमान पुरुष को बतलाया है उसे ही निष्काम कर्मयोग मार्ग समझना चाहिए स्वरूपतः कर्म संन्यासी को नहीं।

यदि अभ्यास करने में भी तू असमर्थ हो तो मदर्थ अर्थात् मेरी प्राप्ति के लिए कर्म करता जा। कर्म करने से भी तू असमर्थ हो तो कर्मयोग का आश्रय करके यतात्मा होकर धीरे-धीरे चित्त को रोकता हुआ अंत में सब कर्मों का परित्याग कर दे। क्योंकि अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है। ज्ञान कि अपेक्षा ध्यान की योग्यता अधिक है और ध्यान की अपेक्षा कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है और त्याग से तुरन्त शांति मिलती है।

ये उपाय तीन हैं–अभ्यास, ज्ञान और ध्यान। इनमें से यदि

किसी से अभ्यास न सधे तो वह ज्ञान अथवा ध्यान में किसी भी उपाय को स्वीकार कर ले।

कर्मफल के स्वल्प आचरण से ही नहीं, किन्तु जिज्ञासा हो जाने से भी मनुष्य कोल्हू में धरे जैसे आप ही आप अंत में सिद्धि की ओर खींचा चला जाता है। अतएव उस मार्ग की सिद्धि पाने का पहला साधन यही है कि कर्मयोग का आश्रय करना चाहिये।

जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सब भूतों के साथ मित्रता से बर्तता है, जो कृपालु है, जो ममत्व बुद्धि और अहंकार से रहित है, जो दुःख और सुख में समान है एवं क्षमाशील है, जो सदा संतुष्ट, संयमी तथा दृढ़ निश्चयी है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मेरा भक्त मुझको प्यारा है। जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है और न जो लोगों से भी क्लेश पाता है, ऐसे ही जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से अलिप्त है, वही मुझे प्रिय है। मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है, जो फल के विषयों में उदासीन है, जिसे कोई विकार डिगा नहीं सकता और (जिसने काम्य फल के) सब आरम्भ यानी उद्योग छोड़ दिये हैं। जो न किसी के भी बात का आनन्द मानता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है और न इच्छा ही रखता है। जिसने कर्म के शुभ और अशुभ फल छोड़ दिये हैं, वह भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय हैं। जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख समान है, जिसे किसी से भी आसक्ति नहीं है, जिसे निन्दा और स्तुति दोनों एक सी है, जो मितभाषी है, जो मिल जावे उसी में संतुष्ट है, जिसका कर्मफलाशारूप ठिकाना कहीं भी नहीं रह गया है, वह भक्तिमान पुरुष मुझे प्यारा है।

सारांश–जिसका चित्त घर-गृहस्थी में बाल-बच्चों में अथवा संसार के अन्यान्य कामों में लगा रहता है, उसको आगे उससे दुःख होता है। अतएव गीता का ज्ञान कहता है कि इन सब बातों में चित्त को न फँसने दे, मन की इसी विरक्त स्थिति को प्रकट करने के लिए गीता के अनिकेत और सर्वारम्भ परित्यागी आदि

शब्द स्थितप्रज्ञ के वर्णन में आया करते हैं।

उस ज्ञानी पुरुष को इसी विरक्त बुद्धि से फलाशा छोड़कर शास्त्र से प्राप्त होनेवाले सब कर्म करते रहना चाहिये।

(श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद में भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ)

त्रयोदश अध्याय–श्री भगवान् उवाच–

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्र मित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

अब तक आध्यात्म दृष्टि से इन बातों का विचार किया गया है कि निष्काम बुद्धि ही कर्मयोग और मोक्ष की जड़ है। इसी शुद्ध बुद्धि से प्रत्येक जन्मभर स्वधर्मानुसार प्राप्त हुए अपने कर्त्तव्य कर्मों को पालन करना चाहिये। ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान ही केवल सत्य और अंतिम साध्य है, उसके समान इस संसार में दूसरी कोई भी वस्तु पवित्र नहीं है। सब बुद्धिगम्य है। इसलिए सामान्य जनों को शंका होती है कि जब बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष भी विनाशी नामरूपात्मक माया से आच्छादित तुम्हारे अमृतस्वरूपी परब्रह्म का वर्णन करते समय नेति-नेति कहकर चुप हो जाते हैं, तब हमारे समान साधारण जनों के समझ में कैसे आवे?

अंत में माधव ने अर्जुन से कहा–चुप रहना ही सच्चा ब्रह्मलक्षण है। जब परमेश्वर स्वरूप का अनुभवात्मक और यथार्थ ज्ञान ऐसा होवे, कि सब चराचर सृष्टि में एक आत्मा प्रतीत होने लगे, तभी मनुष्य की पूरी उन्नति होगी और ऐसी उन्नति करने के लिए तीव्र बुद्धि के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही न हो तो संसार के लाखो, करोड़ो मनुष्यों को ब्रह्मप्राप्ति की आशा छोड़ चुपचाप बैठे रहना होगा। क्योंकि बुद्धिमान मनुष्यों की संख्या हमेशा से कम रही है।

गहन ज्ञान की प्राप्ति के लिए विश्वास अथवा श्रद्धा रखना भी बुद्धि के अतिरिक्त दूसरा मार्ग है। सच पूछो तो ज्ञान की प्राप्ति श्रद्धा के बिना नहीं होती। ज्ञान केवल बुद्धि से ही प्राप्त होता है; इसके लिए अन्य मनोवृत्ति की आवश्यकता नहीं। यह

कहना उन पंडितों का बृथाभिमान है।

इसके सिवा यह भी ध्यान रखना चाहिये कि संसार में सब व्यवहार श्रद्धा, प्रेम आदि नैसर्गिक मनोवृत्ति से चलते हैं। इन वृत्तियों को रोकने के सिवा बुद्धि दूसरा कोई कार्य नहीं करती। सारांश यह है कि बुद्धिगम्य ज्ञान की प्राप्ति होने के लिए ही इस ज्ञान को हमेशा श्रद्धा, दया, वात्सल्य, कर्त्तव्य प्रेम इत्यादि अन्य नैसर्गिक मनोवृत्तियों कि आवश्यकता होती है। जो ज्ञान मनोवृत्तियों को शुद्ध नहीं करता उसे कच्चा ज्ञान समझना चाहिये। जैसे बिना बारूद के केवल गोली से बंदूक नहीं चलती वैसे ही प्रेम, श्रद्धा और मनोवृत्तियों के सहायता के बिना केवल बुद्धिगम्य ज्ञान किसी को तार नहीं सकता।

ईश्वर के प्रति श्रद्धा अर्थात अतिशय जो प्रेम है, उसे भक्ति कहते हैं। वह प्रेम निर्हेतुक, निष्काम और निरंतर हो। कारण यह जब भक्ति में माँग होती है तब वह व्यापार स्वरूप हो जाता है। ऐसी भक्ति राजस कहलाती है और फिर उससे चित्त की शुद्धि ही पूरी-पूरी नहीं होती। जब चित्त की शुद्धि ही पूरी नहीं हुई तब कहना नहीं होगा कि आध्यात्मिक उन्नति में, मोक्ष की प्राप्ति में बाधा आ जाएगी। भक्ति किसी प्रकार की हो, यह प्रकट है कि परमेश्वर में निरतिशय और निर्हेतुक प्रेम रखकर अपनी वृत्ति को तदाकार करने का भक्ति का सामान्य काम मनुष्य को मन से ही करना पड़ता है।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि उपास्य ब्रह्म यद्यपि सगुण है तथापि वह निराकार है। इसलिए जो नेत्रादि को अगोचर है उससे प्रेम करना, हमेशा उसका चिंतनकर मन को उसी में स्थिर करके वृत्तियाँ तदाकार करना मनुष्य के लिए बहुत कठिन है। इसलिए जब तक मन के सामने आधार के लिए कोई इन्द्रियगोचर स्थिर वस्तु न हो तब तक मन बार-बार भूल जाता है कि स्थिर कहाँ होना है। चित्त की स्थिरता का यह मानसिक कार्य बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुषों को भी दुष्कर होता है, तो फिर साधारण मनुष्यों के लिए क्या कहना।

अव्यक्त में चित्त की (मन की) एकाग्रता करनेवाले को बहुत कष्ट होता है, क्योंकि इस अव्यक्त गति को पाना देहेन्द्रियधारी मनुष्यों के लिए स्वभावतः कष्टदायक है।

इस प्रत्यक्ष मार्ग को ही भक्तिमार्ग कहते हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि कोई बुद्धिमान अपनी बुद्धि से परब्रह्म के स्वरूप को निश्चय करके उसके अव्यक्त स्वरूप में केवल अपने विचारों के बल पर अपने मन को स्थिर कर सकता है। परन्तु इस रीति से अव्यक्त में मन को आसक्त करने के काम भी तो अंत में श्रद्धा और प्रेम से ही सिद्ध होता है।

प्रत्यक्ष रूपधारी परमेश्वर के स्वरूप का ही सहारा मनुष्य भक्ति के लिए स्वभावतः लिया करता है। जिसे हम कह सकेंगे, जिसे हमारे सुखों-दुःखों के साथ सहानुभूति हो अथवा जो हमारे अपराधों को क्षमा करेगा।

अंत में अर्जुन को यह उपेदश दिया कि धर्मों को छोड़ तू अकेले मेरी शरण में आ जा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा। डर मत। इससे श्रोता की यह भावना हो जाती है कि मानो मैं साक्षात् परमात्मा के सामने खड़ा हूँ तब आत्मज्ञान के विषय में उसकी निष्ठा भी बहुत दृढ़ हो जाती है।

हमारे देशवासियों को राजविद्या का और राजगुह्य का, यह साक्षात् पारस अनायास ही मिल गया है, परन्तु हममें से ही कुछ लोग अपनी आँखों पर अज्ञान का चश्मा लगाकर उस पारस को चकमक पत्थर समझे तो इसे अपना दुर्भाग्य ही कहेंगे।

भक्ति मार्ग में ज्ञान का काम श्रद्धा से हो जाता है इसलिए विश्वास से या श्रद्धा से परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप को जानकर प्रतीक में भी वह भाव रखो, बस तुमहारा भाव सफल हो जाएगा।

जब कोई मनुष्य एक बार भक्तिमार्ग से चलने लगता है तो कभी न कभी किसी न किसी जन्म में उसे परमेश्वर के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। और इस ज्ञान से अंत में उसे मुक्ति भी मिल जाती है। जब श्रद्धावान पुरुष इन्द्रियनिग्रह द्वारा ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करने लगता है, तब उसे ब्रह्मात्मैक्यरूप

ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और फिर उस ज्ञान से उसे शीघ्र ही पूर्ण शांति मिल जाती है।

गुड़ सा मीठा है भगवान, बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक? जल तरंग से हैं हम एक॥

जो अपने मन में यह भेदभाव नहीं रखता कि मैं अलग हूँ, भगवान अलग है और सब लोग भिन्न है, किन्तु जो सब प्राणियों के विषय में यह भाव रखता है कि भगवान और मैं; दोनों एक हूँ और जो यह समझता है कि सब प्राणी भगवान में और मुझसे भी है, वही सब में श्रेष्ठ है।

कर्म करने की बुद्धि देनेवाला, कर्म का फल देनेवाला, और कर्म का क्षय करनेवाला एक परमेश्वर ही है।

प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित का झगड़ा भक्तों के लिये नहीं है। देखो सब कुछ ईश्वर ही है, जो बाहर, भीतर सर्वव्याप्त है।

संसार के सभी कर्म परमेश्वर की ही सत्ता से हुआ करते हैं। इसलिए भक्तिमार्ग में यह वर्णन है कि वायु भी उसी के भय से चलती है और सूर्य तथा चन्द्र भी उसी की शक्ति से चलते हैं। अधिक क्या कहा जाय, उसकी इच्छा के बिना पेड़ का एक पत्ता तक नहीं हिलता। सारे व्यवहार ही उसके हृदय में निवास कर उससे कराया जाता है। यह प्राणी केवल निमित्त के लिए ही स्वतंत्र है।

ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य स्वयं प्रयत्न करे और अपना उद्धार करे। भगवद्भक्त तो वही है कि जिसके मन में ऐसा भाव उत्पन्न हो जाय–

जिसका कोई न हो, हृदय से उसे लगावे।
प्राणिमात्र के लिए प्रेम की ज्योति जगावे॥
सबमें विभु व्याप्त व्याप्त, जन सबको अपनावे।
है बस ऐसा वही, जो भक्त की पदवी पावे॥

सब प्राणियों के हृदय में निवास करके परमेश्वर ही उन्हें यंत्र के समान नचाता है। इसलिए ये दोनों भावनायें मिथ्या हैं कि

मैं कार्य को छोड़ता हूँ या अमुक कार्य को करता हूँ। फलाशा को छोड़कर सभी कर्म कृष्णार्पण बुद्धि से करते रहो।

यदि तू ऐसा निग्रह करेगा कि मैं अमुक कर्म को नहीं करता तो भी प्रकृति धर्म के अनुसार तुझे इन कर्मों को करना ही पड़ेगा।

अतएव परमेश्वर में अपने स्वार्थ का लय करके स्वधर्म अनुसार प्राप्त व्यवहार को परमार्थ बुद्धि और वैराग्य से लोक संग्रह के लिए तुझे अवश्य की करना चाहिये, मैं भी यही करता हूँ। मेरे उदाहरण को देख और उसके अनुसार बर्ताव कर।

सत्यवादी मनुष्य संसार के सब काम करता है, परन्तु जल में कमलपत्र के समान उससे अलिप्त रहता है। जो परोपकार करता है और प्राणियों पर दया करता है, उसी में आत्मस्थिति का निवास जानो।

गीता का कथन है कि कर्मों को समझकर उन्हें छोड़ देना और इस नवविद्या भक्ति में बिल्कुल निमग्न हो जाना उचित नहीं है। सृष्टि के संग्रहार्थ उसी के सब कर्म हैं। ऐसा करने से कर्म का लेप नहीं होता, उल्टे उन कर्मों से ही परमेश्वर की सेवा, भक्ति वा उपासना हो जायेगी। परमेश्वर की पूजा केवल पुष्पों से या वाचा से ही नहीं होती बल्कि स्वधर्म निष्काम कर्मों से भी होती है और ऐसा पूजा प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये।

भगवान केवल अर्जुन को ही नहीं बल्कि उसे निमित्त करके सबलोगों को निश्चित आश्वासन देते हैं कि चित्त शुद्धि के अनेक धर्म मार्गों को छोड़कर तू केवल मेरी शरण में आ, मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा।

संत तुकाराम भगवान से माँगते हैं–

चतुराई चेतना सब चुल्हे में जावे।
बस मेरा मन एक ईश चरणाश्रय पावे।।
आग लगे आचार विचारों के उपचय में।
उस विभु का विश्वास दृढ़ रहे हृदय में।।

श्रीमदभगवद्गीता रूपी सोने की थाली का यह भक्तिरूपी

अंतिम कौर है। यही प्रेमग्रास है। इसे पा चुके, अब आगे चलें।

चौदहवाँ अध्याय–कर्मों को करते हुए अध्यात्मविचार से या भक्ति से सर्वात्मैक्यरूप साम्यबुद्धि पूर्णतया प्राप्त कर लेना और उसे प्राप्त करने पर भी संन्यास लेने के झंझटों में न पड़कर संसार में शास्त्रतः प्राप्त सब कर्मों को केवल अपना कर्त्तव्य समझकर करते रहना ही इस संसार में मनुष्य का परम पुरुषार्थ अथवा जीवन व्यतीत करने का उत्तम मार्ग है।

चित्त की शुद्धता के लिये स्वधर्मानुसार वर्णाश्रम विहित कर्म करके ज्ञान प्राप्ति होने पर मोक्ष के लिए अंत में सब कर्मों को छोड़कर संन्यास लेना सांख्य मार्ग है। और कर्मों का कभी त्याग न कर अंत तक उन्हें निष्काम बुद्धि से करते रहना योग अथवा कर्मयोग है।

अर्जुन से भगवान कहते हैं कि–आध्यात्मज्ञानानुसार आत्मा अविनाशी और अमर है, इसलिए तेरी यह समझ गलत है कि मैं भिष्म आदि को मारूँगा। क्योंकि, आत्मा न मरता है और न जनमता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने वस्त्र बदलता है, उसी प्रकार आत्मा एक देह छोड़कर दूसरी देह में चला जाता है, परन्तु इससे उसे मृत मानकर शोक करना उचित नहीं। चित्त की शुद्धता के लिए प्रथमतः कर्म करके चित्त शुद्धि हो जाने पर अन्त में सब कर्मों को छोड़ संन्यास लेना ही यदि इस मार्ग के अनुसार श्रेष्ठ है, तो यह शंका रह जाती है कि उत्पत्ति होते हुए ही युद्ध को छोड़ क्या संन्यास लेना अच्छा नहीं है? क्षत्रिय को स्वर्ग में जाने के लिए युद्ध के समान दूसरा दरवाजा क्वचित ही खुला मिलता है। युद्ध में मरने से स्वर्ग और जय प्राप्त करने से पृथ्वी का राज्य मिलेगा।

वासना की शुद्धता या अशुद्धता का निर्णय भी तो व्यवसात्मक बुद्धि ही करती है, इसलिए जब तक निर्णय करनेवाली बुद्धिन्द्रिय स्थिर और शांत नहीं होगी, तब तक वासना भी शुद्ध और सम नहीं हो सकती। इसलिए यह भी कहा गया है कि वासनात्मक बुद्धि को शुद्ध करने के लिए प्रथम समाधि के योग

से बुद्धिन्द्रिय को स्थिर कर लेना चाहिये।

बहुतेरे मनुष्य काम्य सुखों कि प्राप्ति के झंझटों में पड़े रहते हैं और कभी एक फल की प्राप्ति में तो कभी दूसरे फल की प्राप्ति में अर्थात् स्वार्थ में ही बुद्धि निमग्न रहकर चंचल हो जाती है। इसलिए वैदिक कर्मों के काम्य झगड़ों को छोड़ दें और निष्काम बुद्धि से कर्म करना चाहिये।

तेरा अधिकार केवल कर्म करनेभर का है, कर्म के फल की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति तेरे अधिकार में नहीं है। ईश्वर को फलदाता मानकर सम बुद्धि से किये हुए कर्म का लेप कर्ता को नहीं होता। इसलिए तू सम बुद्धि का आश्रय कर। सम बुद्धि को ही कर्म करने की युक्ति कहते हैं। जिस मनुष्य की बुद्धि सम हो गई है, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

तब अर्जुन ने पूछा–महाराज, कृपाकर बतलाइये स्थिप्रज्ञ का व्यवहार कैसा होता है?

कर्ममार्ग में कार्य की अपेक्षा वह बुद्धि ही श्रेष्ठ मानी जाती है, जिससे कर्म करने की प्रेरणा हुआ करती है। तो अब स्थितप्रज्ञ की नाई तू अपनी बुद्धि को सम करके अपना कर्म कर जिससे तू कदापि पाप का भागी न होगा।

द्रव्यमय यज्ञ हल्के दर्जे का यज्ञ है और सयमाग्नि में काम, क्रोध, आदि इन्द्रिय-वृत्तियों को जलाना अथवा नमः कहकर ब्रह्म स्वाहा कर देना उँचे दर्जे का यज्ञ है। तू इसी उँचे दर्जे के यज्ञ के लिए फलाशा त्याग करके कर्म कर।

अंत में कहा–साम्य बुद्धि उसे कहते हैं जब यह ज्ञान प्राप्त हो जावे कि सब प्राणी अपने में या भगवान में हैं। जब ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी सब कर्म भष्म हो जाते हैं और कर्त्ता को कुछ बाधा नहीं होती। यदि हम चलना, बोलना, बैठना, उठना, देखना, सुनना आदि सैकड़ों कर्मों को छोड़ना चाहें तो भी वे नहीं छुटते।

इस दशा में कर्मों को छोड़ने में दृढ़ न होकर उन्हें ब्रह्मार्पण बुद्धि से करते रहना ही बुद्धिमत्ता का मार्ग है। इसलिए

तत्वज्ञानी पुरुष निष्काम बुद्धि से कर्म करते रहते हैं और अन्त में उन्हीं के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लिया करते हैं। ईश्वर न यह कहता है कि कर्म करो, न यह कहता है कि उनका त्याग करो। यह तो सब प्रकृति की क्रीड़ा है और बंधन मन का धर्म है। इसलिए जो सम बुद्धि से कर्म किया करते हैं उसे कर्म की बाधा नहीं होती।

फलाशा त्यागकर जो कर्म किये जाते हैं, वह बड़ा भारी यज्ञ हो जाता है। इसलिए मनुष्य का यही कर्त्तव्य है कि वह सब कर्मों को केवल निष्काम बुद्धि से करता रहे।

परमेश्वर का हेतु यह है, कि संसार चलता रहे और जबकि वह बार-बार अवतार धारण करता है, तब ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर निष्कामबुद्धि से व्यावहारिक कर्मों को करते रहने के जिस मार्ग का उपदेश भगवान ने गीता में दिया है, वही मार्ग कलिकाल में उपयुक्त है और ऐसा कहना ही सर्वोत्तम पक्ष है।

पन्द्रहवाँ अध्याय–एक और बात, उपनिषदों का संन्यास मार्ग भी लोक संग्रह का बाधक है। निष्काम कर्मविषयक धर्म का उपदेश गीता में किया जाता है, जिसका पालन आमरण किया जावे, जिससे बुद्धि (ज्ञान) प्रेम (भक्ति) और कर्त्तव्य का ठीक-ठीक मेल हो जाये, मोक्ष की प्राप्ति में कुछ अंतर न पड़ने पावे और लोक व्यवहार भी सरलता से होता रहे, इसी में कम-अकर्म शास्त्र का सब सार भरा हुआ है।

अधिक क्या कहें, गीता के उपसंहार में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अर्जुन को इस धर्म का उपदेश करने में कम-अकर्म का विवेचन ही मूल कारण है। इस बात का विचार दो तरह से किया जाता है। पहली रीति यह है कि कारण न बतलाकर बोल दें–झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, इत्यादि बातें इसी प्रकार की हैं। परन्तु मनुष्य ज्ञानवान प्राणी है। उसका समाधान केवल आज्ञाओं से नहीं हो सकता। मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह उन नियमों के मूल तत्व की खोज करे–बस यही दूसरी रीति है कि जिसमें कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदि का विचार किया जाता है।

व्यावहारिक धर्म के अंत को इस रीति से देखकर उसके मूल तत्वों को ढूँढ़ निकालना शास्त्र का काम है तथा उस विषय के नियमों को एकत्र करके बतलाना आचार संग्रह कहलाता है।

हमारे यहाँ जो गहन तत्वज्ञान है वह सिर्फ हमारा वेदान्त ही है और वेदान्त ग्रन्थों को देखने से मालूम होता है कि वे सांसारिक कर्मों के विषय में उदासीन है। ऐसी अवस्था में कर्मयोग शास्त्र का अथवा नीति का विचार कहाँ मिलेगा।

परन्तु महाभारत और गीता को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह भ्रमपूर्ण समझ दूर हो जा सकती है।

अन्यान्य पुराणों में भी ऐसे बहुत से प्रसंग पाये जाते हैं। परन्तु गीता के तेज के सामने अन्य सब विवेचन फीके पड़ जाते हैं, इसी कारण भगवद्गीता कर्मयोगशास्त्र का प्रधान ग्रन्थ हो गया है।

थोड़ा भी विचार करने पर यह सहज ही ध्यान में आ सकता है कि सदाचार और दुराचार तथा धर्म और अधर्म शब्दों का उपयोग यथार्थ में ज्ञानवान मनुष्य के कार्य के लिए ही होता है। यही कारण है कि नित्तिमत्ता केवल जड़ कर्मों में नहीं किन्तु बुद्धि में रहती है। धर्म और अधर्म का ज्ञान मनुष्य का अर्थात बुद्धिमान प्राणियों का ही विशिष्ट गुण है। इस वचन का भावार्थ ही वही है। किसी गधे या बैल के कर्मों का परिणाम को देखकर हम उसे उपद्रवी तो बेशक कहा करते हैं, परन्तु वह धक्का देता है, तब उस पर कोई नालिश करने नहीं जाता।

मनुष्य के भी कर्म-अकर्म की भलाई-बुराई ठहराने के लिए सबसे पहले कर्त्ता की बुद्धि का ही विचार करना पड़ता है कि उसने उस कार्य को किस उद्देश्य या भाव से किया और उसे उस कर्म के परिणाम का ज्ञान था या नहीं। किसी धनवान मनुष्य के लिए यह कोई कठिन काम नहीं कि वह अपनी इच्छा अनुसार मनमाना दान दे दें। यह दान विषयक क्रिया से नहीं ठहराई जा सकती। इसके लिए यह भी देखना पड़ेगा कि उस धनवान मनुष्य की बुद्धि सचमुच श्रद्धायुक्त है या नहीं।

महाभारत के एक आख्यान के स्वरूप में उत्तम रीति से

समझाई गई है। जब युधिष्ठिर राजगद्दी पा चुके, तब उन्होंने एक बृहद अश्वमेध यज्ञ किया।

इसमें अन्न और द्रव्य आदि के दान की बहुत प्रशंसा होने लगी तब वहाँ एक दिव्य नेवला आया और युधिष्ठिर से कहने लगा—तुम्हारी व्यर्थ ही प्रशंसा की जाती है। पूर्व काल में इसी कुरुक्षेत्र में एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था, जो खेतों में गिरे हुए आनाज के दाने को चुनकर अपना जीवन निर्वाह करता था। एक दिन भोजन करने के समय उनके यहाँ एक अपरिचित आदमी क्षुधा से पीड़ित अथिति बनकर आ गया। वह दरिद्र ब्राह्मण और उसके कुटुम्बी जन भी कई दिनों से भूखे थे। तो भी उस परिवार ने अपना सब सत्तु उस अतिथि को समर्पित कर दिया।

इस प्रकार उसने जो अथिति यज्ञ किया था उसके महत्व के बराबरी तुम्हारा यह यज्ञ कितना भी बड़ा क्यों न हो, कभी नहीं कर सकता। उस नेवले का मुँह और आधा शरीर सोने का था। उसका कारण उसने यह बतलाया है कि उस ब्राह्मण के घर में अतिथि की जूठन पर लोटने से मेरा मुँह और आधा शरीर सोने का हो गया। परन्तु युधिष्ठिर के यज्ञ-मंडप की जूठन पर लोटने से मेरा बचा हुआ शरीर सोने का न हो सका।

इसमें कुछ भी संदेह नहीं रह जाता कि उसकी परोपकार बुद्धि युधिष्ठिर के समान शुद्ध थी तो उस ब्राह्मण की और उसके स्वल्पकृत्य की नैतिक योग्यता युधिष्ठिर के और उसके बहुव्ययसाध्य यज्ञ के बराबरी की मानी जानी चाहिये। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि कई दिनों तक भूख से पीड़ित होने पर भी उस गरीब ब्राह्मण ने अन्न दान करके अथिति के प्राण बचाने में जो स्वार्थत्याग किया उससे उसकी शुद्ध बुद्धि और भी अधिक व्यक्त होती है। यह तो सभी जानते हैं कि धैर्य आदि गुणों के समान शुद्ध बुद्धि की परीक्षा संकटकाल में ही हुआ करती है। और शास्त्र ने भी कहा है—संकट के समय जिसकी शुद्ध बुद्धि भ्रष्ट नहीं होती, वही सच्चा नीतिमान है। उक्त नेवले का भी अभिप्राय यही था।

यदि कर्त्ता की बुद्धि की शुद्ध हो तो बहुधा छोटे-छोटे कर्मों की नैतिक योग्यता भी बड़े-बड़े कर्मों की योग्यता के बराबर ही हो जाती है। अर्जुन से भगवान कहते हैं—यदि तुम्हारी बुद्धि स्थितप्रज्ञों के समान होगी और यदि तुम उस शुद्ध और पवित्र बुद्धि से अपना कर्त्तव्य करने लगोगे तो फिर चाहे भीष्म मरे या द्रोण, तुम्हें उसका पाप नहीं लगेगा। तुम कुछ इस फल की आशा से तो युद्ध कर नहीं रहे हो कि भीष्म मारे जायें।

जिस राज्य पर तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है, उसका हिस्सा तुमने मांगा और युद्ध टालने के लिए तुमने बहुत कुछ प्रयत्न किया। किन्तु जब मेल के प्रयत्न से और साधुपन के मार्ग से निर्वाह नहीं हो सका, तब लाचारी से तुमने युद्ध करने का निश्चय किया है, इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं है। आवश्यकता आ पड़ने पर क्षत्रिय धर्म के अनुसार लोकसंग्रहार्थ उसकी प्राप्ति के लिए युद्ध करना ही तुम्हारा धर्म (कर्त्तव्य) है।

मन का व्यापार प्रथम है। उसके अनन्तर धर्म-अधर्म का आचरण होता है। कर्त्ता का मन जिस प्रकार शुद्ध या दुष्ट रहता है, उसी प्रकार उसके भाषण और कर्म भी भले-बुरे हुआ करते हैं तथा उसी प्रकार उसे सुख-दुःख मिलता है।

इसी तरह उपनिषदों और गीता का यह अनुमान भी है कि जिसका मन एक बार शुद्ध और निष्पाप हो जाता है, उस स्थितप्रज्ञ पुरुष से फिर पाप होना संभव नहीं। अर्थात सब कुछ करके भी वह पाप-पुण्य से अलिप्त रहता है।

इसलिए बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में कई स्थानों पर 'अर्हन्त' लिखा हुआ है। अर्थात पूर्णावस्था में पहुँचा हुआ मनुष्य हमेशा ही शुद्ध और निष्पाप रहता है।

युद्ध के बाद जब कुन्ती धृतराष्ट्र के साथ वन जाने लगी तब युद्धिष्ठिर ने सिर्फ यही कहा था कि तू अपने हृदय को विशाल बनाये रखना।

मनुष्य की वासनात्मक बुद्धि तभी शुद्ध पवित्र और स्वतंत्र समझनी चाहिये, जब कभी वह इन्द्रिय सुख में लिप्त न रहकर

सदैव शुद्ध बुद्धि की आज्ञा के इस बुद्धि द्वारा निश्चित कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के नियमों के अनुसार चलने लगे। इस प्रकार इन्द्रिय निग्रह हो जाने पर जिसकी वासना शुद्ध हो गई हो उस पुरुष के लिए किसी नीति नियमादि के बंधन की आवश्यकता नहीं रह जाती।

इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि मैं कौन हूँ? यह जगत कैसे उत्पन्न हुआ? मेरा इस संसार में क्या उपयोग हो सकता है? इत्यादि गुढ़ प्रश्नों का निर्णय जिस तत्व से हो सकेगा उसी तत्व के अनुसार विचारवान पुरुष इस बात का भी निर्णय अवश्य करेगा कि मुझे अपने जीवन काल में अन्य लोगों के साथ कैसे बर्ताव करना चाहिये।

काँट के अनुसार—'मनुष्य अपने सुख के लिए या अधिकांश लोगों को सुख देने के लिए पैदा हुआ है।' अपनी आत्मा के अमर, श्रेष्ठ, शुद्ध, नित्य, तथा सर्वव्यापी स्वरूप को पहचान करके उसी में रत रहना ही ज्ञानवान मनुष्य का इस नाशवान संसार में पहला कर्त्तव्य है।

चाहे समाज हिन्दुओं का हो या मलेच्छों का, चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, चाहे वह पूर्वी हो या पश्चिमी, यदि उस समाज में चातुर्यवर्ण्य व्यवस्था प्रचलित हो, तो उस व्यवस्था के अनुसार जो काम अपने हिस्से आ पड़े अथवा जिसे हम अपनी रूचि के अनुसार कर्त्तव्य समझकर एक बार स्वीकृत कर लें वही अपना स्वधर्म हो जाता है। और गीता कहती है किसी भी कारण से इस धर्म को ऐन मौके पर छोड़ देना और दूसरे काम में लग जाना निंदनीय है। गीता कहती है—स्वधर्म पालन में मृत्यु भी श्रेयष्कर है। गीता शास्त्र का तात्पर्य भी यही है कि समाज-व्यवस्था चाहे कैसी भी हो जो यथा अधिकार काम तुम्हारे हिस्से में आ जायें उन्हें तुम उत्साहपूर्वक करके सर्वभूत हितरूपी आत्मश्रेय की सिद्धि प्राप्त करो।

समाज की इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिये जिससे भविष्य में ऐसे मनुष्य प्राणी पैदा हों जिनकी सब मनोवृत्तियाँ

अत्यन्त विकसित होकर पूर्णावस्था में पहुँच जावें। बस इस संसार में मनुष्य मात्र का परम कर्त्तव्य और परम साध्य यही है। ईश्वर से आशापूर्वक अंतिम प्रार्थना यही है कि भक्ति का मेल कर देनेवाले इस तेजस्वी तथा सम गीता धर्म के अनुसार परमेश्वर का भजन पूजन करनेवाले सतपुरुष इस देश में फिर से उत्पन्न हों।

सोलहवाँ अध्यायः–भगवान ने कहा–राक्षसी स्वभाव वाले मनुष्य मेरे अव्यक्त और श्रेष्ठ स्वरूप को नहीं पहचानते।

श्री भगवान ने कहा–अभय, शुद्ध सात्विक वृत्ति, ज्ञानमार्ग और कर्मयोग की तारतम्य से व्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग अर्थात (कर्मफल त्याग) शांति, उदारभाव रखना, सब भूतों में दया, तृष्णा, मृदुता, बुरे काम की लाज, अचपलता अर्थात फिजूल कामों का छुट जाना, तेजस्विता, क्षमा, धृति, शुद्धता, द्रोह न करना, अतिमान न रखना, ये गुण दैवी संपत्ति में जन्मे मनुष्यों में प्राप्त होते हैं।

असुर लोग नहीं जानते प्रवृत्ति क्या है और निवृत्ति क्या है? अर्थात वे नहीं जानते कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। उनमें न शुद्धता रहती है, न आचार और न सत्य ही। आसुरी लोग कहते हैं कि सारा जगत असत्य है, अप्रतिष्ठ यानी निराधार है यानी बिना परमेश्वर का है अर्थात मनुष्य की विषय-वासना के अतिरिक्त उसका और क्या हेतु हो सकता है। यह विचार आप ही आप हो जाता है कि मनुष्य की कामवासना को तृप्त करने के लिए ही जगत के सारे पदार्थ बने हैं। इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकार करके ये अल्पबुद्धि वाले नष्टात्मा और दुष्टलोग क्रूर कर्म करते हुए जगत का क्षय करने के लिए उत्पन्न हुआ करते हैं।

काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरक के द्वार हैं और ये आचरण नाश कर डालते हैं, इसलिए इन्हें त्याग देना चाहिये।

हे कौन्तेय! इन तीनों तमोद्वारों से छुटकर मनुष्य वही आचरण करने लगता है, जिसमें उसका कल्याण हो और फिर उत्तम गति को पा लेता है।

प्रकट है कि नरक के तीनो दरवाजों से छुट जाने पर सद्गति मिलनी ही चाहिये। किन्तु यह नहीं बतलाया कि कौन सा आचरण करने से वे छुट जाते हैं, अब उसका मार्ग बतलाते हैं। जो शास्त्रोक्त विधि छोड़कर मनमाना बर्ताव करने लगते हैं, उन्हें न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न उत्तम गति ही मिलती है।

इसलिए कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय करने के लिये तुझे शास्त्रों का प्रमाण मानना चाहिये और शास्त्रों में जो कुछ कहा है उसको समझकर इसलोक में कर्म करना तुझे उचित है। गीता रहस्य में स्पष्ट कर दिखला दिया है कि इसी को कर्मयोग शास्त्र कहते हैं। इस प्रकार श्री भगवान के गाये हुए कर्मयोग विषय सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

सत्रहवाँ अध्याय–यहाँ तक इस बात का वर्णन हुआ कि कर्मयोग शास्त्र के अनुसार संसार का धारण, पोषण करनेवाले पुरुष किस प्रकार होते हैं? और इसके विपरीत संसार का नाश करनेवाले मनुष्य किस ढंग के होते हैं?

अब यह प्रश्न सहज ही होता है कि मनुष्य-मनुष्य में इस प्रकार के भेद क्यों होते हैं? श्री भगवान ने कहा–प्राणिमात्र की यह श्रद्धा स्वभावतः तीन प्रकार की होती है–सात्विक, राजस और तामस।

हे भारत! सब लोगों की श्रद्धा अपनी-अपनी प्रकृति स्वभाव के अनुसार होती है। जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा ही होता है। तेरहवें अध्याय में यह कहा गया है कि, जिसकी जिसकी जैसी बुद्धि हो उसे वैसा ही फल मिलता है।

तब प्रश्न होता है कि फिर बुद्धि क्योंकर सुधर सकती है? इसका उत्तर है कि आत्मा स्वतंत्र है, अतः देह का यह स्वभाव क्रमशः अभ्यास और वैराग्य के द्वारा धीरे-धीरे बदला जा सकता है।

प्रकृति स्वभावानुसार श्रद्धा बदलती है। अब बतलाते हैं कि प्रकृति भी सत्य, रज और तम इन तीन गुणों से युक्त है। जो पुरुष सात्विक है, जिनका स्वभाव सत्वगुण प्रधान है, वे देवताओं का भजन करते हैं। राजस पुरुष राक्षसों का एवं तामस

पुरुष भूतों का भजन करते हैं।

आत्मा की स्वाधीनता का उपयोग कर और शास्त्रों के अनुसार आचरण करके धीरे-धीरे सुधरते जाना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। जो ऐसा नहीं करते उसे आसुरी बुद्धि का समझनी चाहिये। प्रत्येक की रुचि के आहार भी तीन प्रकार के होते हैं। यही अवस्था यज्ञ, तप, दान की भी होती है। सात्विक वृत्ति, बल, आरोग्य का बढ़ानेवाले, रसीले एवं मन को आनन्द देनेवाले आहार सात्विक पुरुष को; कड़ुवे, खट्टे, तीखे, रोग एवं शोक उपजानेवाले एवं बासी, ठंडा, नीरस, जूठा, तामस पुरुष को प्रिय हैं। यदि आहार सात्विक एवं शुद्ध हो तो मनुष्य की वृत्ति भी क्रम-क्रम से शुद्ध सात्विक हो सकते हैं।

अब यज्ञ के तीन भेदों का वर्णन करते हैं–फलाशा की आकांक्षा छोड़कर, अपना कर्त्तव्य समझकर शास्त्र के अनुसार शांत चित्त से जो यज्ञ किया जाता है वह सात्विक यज्ञ है। जो फल की इच्छा से या जो दिखलाने हेतु किया जाता है वह राजस तथा जो शास्त्र विधि-रहित अन्नदान विहीन, बिना मंत्रों का, बिना दक्षिणा का और श्रद्धा से शून्य यज्ञ को तामस कहते हैं।

तप के भी तीन भेद हैं–देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को कायिक तप कहते हैं। सत्य, प्रिय तथा हितकारक भाषण को तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्म के अभ्यास को वाचिक तप कहते हैं। मन को प्रसन्न रखना, मनोनिग्रह और शुद्ध भावना इनको मानस तप कहते हैं। यह सनातन धर्म है कि सच और मधुर बोलना चाहिये, अप्रिय सच नहीं बोलना चाहिये।

(इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा न रखकर उत्तम श्रद्धा से तथा योगयुक्त बुद्धि से करे तो वे सात्विक कहलाते हैं। और जो तप अपने मान और सत्कार के लिए चंचल बुद्धि से करता है वह राजस कहलाता है एवं दूसरों को सताने के लिए किया हुआ तप तामस कहलाता है।)

दान भी तीन प्रकार का होता है–जो कर्त्तव्य बुद्धि से,

योग्य स्थल, काल एवं पात्र का विचार कर किया जाता है वह सात्विक, जो फल की आशा रख या किये हुए उपकार के बदले में बड़ी कठिनाई से दिया जाता है वह राजस तथा अयोग्य स्थान में अयोग्य काल में, अपात्र मनुष्य को बिना सत्कार के अथवा अवहेलनापूर्वक जो दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है। आहार, यज्ञ, तप और दान के समान ही ज्ञान कर्मकर्त्ता, बुद्धि धृति और सुख की त्रिविधता का वर्णन अगले अध्याय में है।

अठारहवाँ अध्याय:–अठारहवाँ अध्याय पूरे गीता शास्त्र का उपसंहार है। अतएव अब तक जो विवेचन हुआ है, उसका हम यहाँ संक्षेप में सिंहावलोकन करते हैं। पहले अध्याय में स्वधर्म के अनुसार प्राप्त युद्ध को छोड़ भीख माँगने पर उतारु होनेवाले अर्जुन को अपने कर्म में प्रवृत्त करने के लिए उपदेश दिया गया है। दूसरे अध्याय में आत्मज्ञानी पुरुषों के स्वीकृत आयु बिताने के दो प्रकार के मार्ग (संन्यास और कर्मयोग) का वर्णन है।

यद्यपि दोनों मोक्ष के मार्ग हैं, तथापि कर्मयोग ही अधिक श्रेयष्कर है। फिर तीसरे अध्याय से पाँचवें तक इन युक्तियों का वर्णन है कि कर्मयोग में बुद्धि श्रेष्ठ समझी जाती है। बुद्धि के सम और स्थिर रहने से कर्म की बाधा नहीं होती है। कर्म किसी के नहीं छूटते तथा उन्हें छोड़ देना भी उचित नहीं। केवल फलाशा त्याग करना ही काफी है। अपने लिए न सही लोक संग्रह के लिए कर्म करना आवश्यक है। पूर्व परम्परा देखी जाय तो जनक आदि ने इसी मार्ग का आचरण किया है। इन्द्रिय निग्रह का विवेचन छठे अध्याय में किया है। फिर सातवें से सत्रहवें अध्याय तक बतलाया है कि कर्मयोग का आचरण करते हुए परमेश्वर का ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है और वह ज्ञान क्या है?

शुद्ध अन्तःकरण से परमेश्वर की भक्ति करके परमेश्वरार्पण पूर्वक स्वधर्म के अनुसार केवल कर्त्तव्य समझकर मरण पर्यन्त सब कर्म करता रहे। यही कर्मयोग प्रधान आयु बिताने का मार्ग सबसे उत्तम है। इस मार्ग के आचरण करनेवाले मनुष्य नित्य संन्यासी है।

भगवान कर्म छोड़ देने की आज्ञा कहीं भी नहीं देते। श्री भगवान ने कहा–जितने काम्य कर्म हैं उनको छोड़ने को ज्ञानी लोग संन्यास कहते हैं तथा समस्त कर्मों के फलों के त्याग को पंडित लोग त्याग कहते हैं। फलाशा छोड़ना चाहिये न कि कर्म।

मनुस्मृति में निष्काम कर्म अर्थात फलाशा छोड़कर किये हुए कर्म को निवृत्ति कर्म और फलाशा से किये हुए कर्म को प्रवृत्ति कर्म कहते हैं। भगवान ने कहा–हे भरतश्रेष्ठ! त्याग के विषय में मेरा निर्णय सुन। कर्म का दोष अर्थात् बाधकता कर्म में नहीं, फलाशा में है। इसलिए पहले अनेक बार जो कर्मयोग का यह तत्व कहा गया है कि सभी कर्म फलाशा छोड़कर निष्काम बुद्धि से करना चाहिये, उसका यह उपसंहार है।

इस रीति से सब कर्म फलाशा छोड़कर अथवा भक्ति दृष्टि से केवल परमेश्वरार्पण बुद्धिपूर्वक किये जावें तो सृष्टि का चक्र चलता रहेगा और कर्त्ता के मन की फलाशा छुट जाने के कारण ये कर्म मोक्ष प्राप्ति में बाधा नहीं डाल सकते।

जो कर्म (स्वधर्म के अनुसार) नियत अर्थात् स्थिर कर दिये गये हैं, उनका संन्यास यानी त्याग करना किसी को भी उचित नहीं है।

गीता में यह सिद्धान्त अनेक बार कहा गया है कि मनुष्य को न तो कर्मफल की आशा करनी चाहिये और न ऐसी अहंकार बुद्धि मन में रखना चाहिये कि में अमुक काम करूँगा। जिस कर्म को मनुष्य अपनी करनी समझता है, वह केवल उसी के यत्न का फल नहीं है। उसकी सफलता के लिए धरती, बीज, पानी, खाद और बैल आदि गुणधर्म अथवा व्यापारों की सहायता आवश्यक होती है। उनमें से कुछ व्यापारों से जानकर उसकी अनुकूलता पाकर ही मनुष्य यत्न किया करता है। परन्तु हमारे प्रयत्नों के लिए अनुकूल अथवा प्रतिकूल सृष्टि के और भी कई व्यापार हैं, जिन्हें हम नहीं जानते, उन्हें ही दैव कहते हैं। और कर्म की घटना का यह पाँचवाँ कारण कहा गया है। मनुष्य का यत्न सफल होने के लिए जब इतनी सब बातों की आवश्यकता है और उनमें से कई तो

हमारे वश की भी नहीं है, तब यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है कि मनुष्य का ऐसा अभिमान रखना मूर्खता का लक्षण है कि मेरे अमुक कार्य का फल अमुक ही होना चाहिये।

साधारण मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं, वह स्वार्थ के लोभ से करते हैं, अतः उनका वर्ताव अनुचित हुआ करता है। परन्तु जिसका स्वार्थ या लोभ नष्ट हो गया है अथवा फलाशा पूर्णतया विलीन हो गई है, जिसे प्राणिमात्र समान ही हो गये हैं उससे किसी का भी अहित नहीं हो सकता।

जिसकी बुद्धि पहले से शुद्ध और पवित्र हो गई है, उसका किया हुआ कोई कर्म यद्यपि लौकिक दृष्टि से विपरीत भले ही दिखाई दे तो भी न्यायतः कहना पड़ता है कि उसका बीज शुद्ध ही होगा। फलतः उस काम के लिए उस शुद्ध बुद्धिवाले मनुष्य को जिम्मेदार न समझना चाहिये। स्थिप्रज्ञ अर्थात् शुद्ध बुद्धिवाले मनुष्य की निष्पापता के इस तत्व का वर्णन उपनिषद् में भी है।

इन्द्रियों के द्वारा कोई भी कर्म होने के पूर्व मन से उसका निश्चय करना पड़ता है। अतएव इस मानसिक विचार को गीता रहस्य में अर्थात् कर्म करने की प्रारम्भिक प्रेरणा को कहते हैं। और वह स्वभावतः ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के रूप में तीन प्रकार की होती है।

एक उदाहरण लीजिये–प्रत्यक्ष घड़ा बनाने के पूर्व कुम्हार (ज्ञाता) अपने मन से निश्चय करता है कि मुझे अमुक बात ज्ञेय करनी है और वह अमुक रीति से (ज्ञान) से होगी यह क्रिया कर्मचोदना कहलाता है। मन का निश्चय हो जाने पर कुम्हार (कर्त्ता) मिट्टी, चाक इत्यादि साधन इकट्ठेकर प्रत्यक्ष घड़ा (कर्म) तैयार करता है। यह कर्म संग्रह हुआ। कुम्हार का कार्य घट तो है, पर उसी को मिट्टी कार्य भी कहते हैं। इससे मालूम होता है। कर्मचोदना शब्द से मानसिक अथवा अन्तःकरण की क्रिया का बोध होता है।

ज्ञान के प्रकार–प्राणीमात्र में एक ही आत्मा को पहचानना

पूर्ण और सात्विक ज्ञान है ।

सार यह हुआ कि विभक्त में अविभक्त अथवा अनेकता में एकता को पहचानना ही ज्ञान का सच्चा लक्षण है। बृहदारण्यक एवं कठोपनिषद् के अनुसार जो यह पहचान लेता है कि इस जगत में नानत्व नहीं है, वह मुक्त हो जाता है। परन्तु जो इस जगत में अनेकता देखता है, वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है।

फल की प्राप्ति की इच्छा न करनेवाला मनुष्य मन में प्रेम या द्वेष न रखकर बिना आसक्ति के जो नियत किया हुआ कर्म करता है वह सात्विक; फलाशा की इच्छा रखनेवाला अहंकार बुद्धि से जो बहुत परिश्रम से कर्म करता है उसे राजस तथा मोह के वश बिना परिणाम सोचे कि आगे क्या नाश तथा हिंसा होगी कर्म किया जाता है, तामस कार्य है। (इन तीन प्रकार के कर्मों से सभी प्रकार के कर्मों का समावेश हो जाता है।)

कर्त्ता के प्रकार–जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो मैं और मेरा नहीं करता, कार्य भी सिद्धि हो या न हो जो मन से विकार रहित होकर धृति और उत्साह के साथ कर्म करता है उसे सात्विक कर्त्ता कहते हैं।

विषयासक्त, लोभी, हर्ष-शोक से युक्त, कर्मफल पाने की इच्छावाला, राजसकर्त्ता, तथा अयुक्त (चंचल बुद्धिवाला, असभ्य, गर्व से फूलनेवाला, दूसरों की हानि करनेवाला, घड़ी भर के काम में महीनेभर लगानेवाला कर्त्ता तामस कहलता है।

धृति के भेद–धृति शब्द का अर्थ है धैर्य, यहाँ धृति शब्द का अर्थ दृढ़ निश्चय है। नींद और आलस्य आदि कामों में ही यदि दृढ़ निश्चय किया गया हो तो तामस है, फलाशापूर्वक नित्य व्यवहार के काम करने में किया गया हो तो राजस और फलाशा-त्यागरूपी योग में दृढ़ निश्चय किया गया हो तो वह सात्विक है।

सुख के भी तीन प्रकार हैं–अभ्यास से जिसमें रम जाता है और जहाँ दुःख का अन्त होता है, जो आरम्भ में तो विष के समान लगता है परन्तु परिणाम अमृत तुल्य होता है, उस

(आध्यात्मिक) सुख को सात्विक सुख कहते हैं। इन्द्रियों और विषयों के संयोग से होनेवाले सुख राजस कहलाते हैं। जो आरम्भ में तो अनुबंध और परिणाम में मोह में फँसाता है और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद अथात् कर्त्तव्य की भूल से उपजता है उसे तामस सुख कहते हैं।

इस पृथ्वी पर, आकाश में अथवा देवलोक में भी ऐसी कोई वस्तु नहीं जो प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो।

सिद्धि कैसे प्राप्त होती है?

अपने-अपने कर्मों में नित्य रत पुरुष (उसी से) परम सिद्धि पाता है। सुन, कर्मों में तत्पर रहने से सिद्धि कैसी मिलती है? प्राणीमात्र की जिससे प्रवृत्ति हुई है और जिसने इस सारे जगत का विस्तार किया है उसकी अपने कर्मों के द्वारा (केवल वाणी अथवा फूलों से नहीं) पूजा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

हे कौन्तेय! जो कर्म सहज है, अर्थात् जन्म से ही गुण कर्म विभागानुसार नियत हो गया है, वह सदोष है। तो भी उसे कभी न छोड़ना चाहिये, क्योंकि सम्पूर्ण उद्योग किसी न किसी दोष से वैसे ही व्याप्त है जैसे, धुएँ से आग घिरी रहती है। कहीं भी आसक्ति न रखकर, मन को वश में करके निष्काम बुद्धि से चलने पर संन्यास द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है।

हे कौन्तेय! सिद्धि प्राप्त होने पर ज्ञान की परम निष्ठा, अर्थात् ब्रह्म जिस रीति से प्राप्त होता है, उसका मैं संक्षेप में वर्णन करता हूँ। शुद्ध बुद्धि से युक्त होकर धैर्य से आत्मसंयमन कर शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों को छोड़कर और प्राप्ति एवं द्वेष को दूरकर, एकांत स्थल में रहनेवाले, मिताहारी, काया-वाचा और मन को वश में रखनेवाला, नित्य ध्यानयुक्त और विरक्त तथा अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध को छोड़कर शांत एवं ममता रहित (मनुष्य) ब्रह्मभूत होने के लिए समर्थ होता है।

ब्रह्मभूत हो जाने पर प्रसन्नचित्त होकर वह न किसी की

आकांक्षा करता है और न किसी का द्वेष भी तथा समस्त प्राणीमात्र में सम होकर मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है। भक्ति से उसको मेरा तात्विक ज्ञान हो जाता है कि मैं कौन हूँ? कितना हूँ? इस प्रकार तात्विक पहचान हो जाने पर वह मुझमें ही प्रवेश करता है। और मेरा ही आश्रयकर सब कर्म सदैव करते रहने पर भी उसे मेरे अनुग्रह से शाश्वत एवं अव्यय स्थान प्राप्त होता है। मन से सब कर्मो को मुझमें समर्पितकर मत्परायण होता हुआ बुद्धियोग के आश्रय से हमेशा मुझमें चित्त रख।

मुझमें चित्त रखने पर तू मेरे अनुग्रह से सब संकटों को अर्थात् कर्म के शुभाशुभ कर्मों को पार कर जावेगा। परन्तु अहंकार के वश होकर मेरी न सुनेगा तो नाश (निस्संदेह) पावेगा।

हे अर्जुन! सब प्राणियों के हृदय में ईश्वर रहकर अपनी माया से प्राणीमात्र को ऐसा घुमा रहा है, मानो सभी किसी यंत्र पर चढ़ाये गये हों। इसलिए हे भारत! तू सर्वभाव से उसी की शरण में जा। उसके अनुग्रह से तुझे परम शान्ति और नित्य स्थान प्राप्त होगा।

इसका पूर्ण विचार करके जैसी इच्छा हो वैसा कर। जगत में जो कुछ व्यवहार हो रहे हैं, उन्हें परमेश्वर जैसा चाहता है, वैसे करवा रहा है। इसलिए ज्ञानी मनुष्य को उचित है कि अहंकार बुद्धि छोड़कर, अपने आपको सर्वथा परमेश्वर के हवाले कर दे।

सर्वगृह्ध्यतमं भूयः शणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिती ततो वक्ष्यामिते हितम्॥
मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्यपरित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेम्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

ज्यों ही तू इस ज्ञान को समझ लेगा त्यों ही तू स्वयं प्रकाश हो जायेगा और फिर तू अपनी इच्छा से जो कर्म करेगा, वही धर्म प्रमाण होगा तथा तुझे स्थितप्रज्ञ की ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर तेरी इच्छा को रोकने की आवश्यकता न रहेगी।

अब अंत की एक बात और सुन, कि जो गुह्यातिगुह्य है मेरा अत्यन्त प्यारा है, इसलिए मैं तेरे हित की बात करता हूँ। मुझमें अपना मन रख, मेरा भक्त हो, मेरा भजन कर और मेरी वंदना कर। मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तू मुझमें ही आ मिलेगा क्योंकि तू केवल मेरी शरण में आ जा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, डर मत।

जो तप नहीं करता, भक्ति नहीं करता और सुनने की इच्छा भी नहीं करता तथा जो मेरी निंदा करता है, उसे यह गुह्य कभी मत बताओ।

परम्परा की रक्षा के लिए इस उपदेश के साथ ही अब फल बतलाते हैं–हम दोनों के धर्म-संवाद का जो कोई अध्ययन करेगा, मैं समझूँगा कि उसने ज्ञान यज्ञ से मेरी पूजा की है। इसी प्रकार दोष न ढूँढ़कर श्रद्धा के साथ जो कोई इसे सुनेगा, वह भी पापों से मुक्त होकर उन शुभ लोकों में जा पहुँचेगा कि जो पुण्यवान लोगों को मिलते हैं।

यहाँ उपदेश समाप्त हुआ। अब जाँचने के लिए भगवान पूछते हैं–हे पार्थ! तूने इसे एकाग्र मन से सुना है न? तेरा अज्ञानरूपी मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया कि नहीं?

अर्जुन ने कहा–हे अच्युत! तुम्हारे प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझमें कर्त्तव्य धर्म की स्मृति हो गई है। मैं अब निसंदेह हो गया हूँ, आपके आदेशानुसार युद्ध करूँगा।

संजय ने कहा–इस प्रकार शरीर को रोमांचित करनेवाले, वासुदेव और महात्मा अर्जुन का यह अद्‌भुत् संवाद व्यासजी के अनुग्रह से स्वयं श्रीकृष्ण के मुख से मैंने सुना है।

मेरा मत है कि जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं, और जहाँ धनुर्धर अर्जुन है वहीं श्रीविजय, शाश्वत ऐश्वर्य और नीति है।

उक्त सिद्धान्त का सार यह है कि जहाँ युक्ति और शक्ति दोनों एकत्रित होती है, वहाँ निश्चय ही ऋद्धि-सिद्धि निवास करती है।

इस प्रकार भगवान के गाये हुए–उपनिषद् में ब्रह्मविद्यान्तर्गत

योग अर्थात् कर्मयोग शास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन संवाद में मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

इस अध्याय में प्रतिपादन किया गया है कि स्वकर्म को न छोड़कर उसे परमेश्वर में मन से समर्पितकर देने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अतएव इस अध्याय का मोक्षसंन्यासयोग नाम रखा गया है।

इस प्रकार बाल गंगाधर तिलक कृत श्रीमद्भगवद्गीता का रहस्य संजीवन नामक प्राकृत अनुवाद टिप्पणी सहित समाप्त हुआ।

सफलता सबका लक्ष्य होता है। हर व्यक्ति सफल होना चाहता है। परन्तु बहुत कम लोग सफलता को प्राप्त कर सकते हैं। सफलता कठिन परिश्रम एवं दृढ़ संकल्प से प्राप्त होती है। अगर हम कठिन परिश्रम करने के लिए तैयार नहीं है तो हमें सफलता की उम्मीद नहीं रखनी चाहिये। जब तक हम पूरी आस्था से प्रयास नहीं करेंगे तब तक हम सफल नहीं होंगे। सफलता की प्राप्ति के लिए समय की कीमत जानना बहुत आवश्यक है। समय कीमती है। समय को गंवाने का मतलब है अवसर खो देना। कठिन परिश्रम के साथ-साथ एक सफल व्यक्ति समय का सदुपयोग करना भी जान जाता है। हमें समय व्यर्थ नहीं करना चाहिये बल्कि समय का सर्वोत्तम सदुपयोग करना चाहिये।

जीवन की दिशा और अपने लक्ष्य को जानना भी महत्त्वपूर्ण है। एक ही समय में बहुत-सी चीजों के पीछे दौड़ने से कोई लाभ नहीं होता। किसी भी व्यक्ति को प्रत्येक कार्य अपनी योग्यता के अनुसार करनी चाहिये। कई बार बहुत प्रतिभावान न होते हुए कठिन परिश्रम के बल पर व्यक्ति सफलता प्राप्त कर लेते हैं। परस्थितियाँ और भाग्य पर हमारा कोई जोर नहीं, पर मेहनत हम कितनी कर सकते हैं, यह हमारे हाथ में है। आइये, आज ही हम आध्यात्मिक जीवन में सफलता पाने के लिए संकल्प लेकर इस दिशा में प्रयत्न शुरु करें। □